स्वामी दयानन्द सरस्वती

भारतीय साहित्य के निर्माता

स्वामी दयानन्द सरस्वती

विष्णु प्रभाकर

साहित्य अकादेमी

Swami Dayanand Saraswati : A monograph in Hindi by Vishnu Prabhakar on social thinker and writer. Sahitya Akademi, New Delhi (2002), Rs. 25/-

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण	:	1988
द्वितीय संस्करण	:	2001
पुनर्मुद्रण	:	2002

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053

सीआईटी कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, तारामणि, चेन्नई 600113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : नागरी प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

अनुक्रम

प्राक्कथन	7
खण्ड एक	
जीवन यात्रा : साधना एवं सर्जना	11
खण्ड दो	
हिन्दी भाषा और साहित्य को योगदान	72
खण्ड तीन	
रचनाएँ (चयन)	101
सन्दर्भ-ग्रन्थ	119

प्राक्कथन

भारतीय साहित्य के निर्माताओं में आर्य समाज के संस्थापक और नवजागरण के पुरोधा स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम देखकर अनेक मित्रों को आश्चर्य हो सकता है। होने के कारण भी हैं। साहित्य, विशेषकर रचनात्मक साहित्य की संज्ञा दी जा सके ऐसा कुछ भी तो नहीं लिखा उन्होंने। न कविता, न कहानी, न उपन्यास, न नाटक—नाटक के तो वे इतने विरोधी थे कि किसी आर्य-पत्रिका में उसका छपना भी पसन्द नहीं करते थे। उनकी यह धारणा सम्भवतः उस काल के पारसी थियेटर के विकृत रूप को देखने से बनी थी। एक पवित्रतावादी सुधारक पर यही प्रतिक्रिया हो सकती थी।

वे जीवन भर घूमते रहे पर कोई यात्रा-वृतान्त नहीं लिखा। न रेखाचित्र, न संस्मरण और न जीवन-चरित्र। हाँ, बस आत्मकथा[1] अवश्य लिखी, पर वह इतनी संक्षिप्त, इतनी अधूरी है और भाषा भी इतनी अटपटी है कि साहित्य का इतिहास-कार उसे देखकर भी अनदेखा कर सकता है। लेकिन उसमें यात्रा-वृतान्त की कुछ झलक अवश्य मिलती है।

बहुत-से समीक्षकों की दृष्टि में यह इतिहास हो सकता है साहित्य नहीं। इसलिए वे कह सकते हैं कि प्रचलित अर्थों में स्वामीजी सर्जक नहीं थे। हिन्दी भाषा का प्रचार करना भी उनका प्रमुख उद्देश्य कभी नहीं रहा। हिन्दी उनकी मातृभाषा भी नहीं थी। वह गुजराती थी और उन्होंने अध्ययन किया था संस्कृत का। वह वास्तव में समाज-सुधारक थे पर मात्र समाज-सुधारक ही नहीं सत्य के अन्वेषक भी थे। देश में फैले अविद्या के अन्धकार को दूर करने के लिए तथा पाखण्ड, दम्भ और मिथ्या आडम्बर पर प्रहार करने के लिए वे घूम-घूमकर व्याख्यान देते थे और शास्त्रार्थ करते थे। प्रारम्भ में वे सरल संस्कृत में बोलते थे। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में यह था,

> "भारत में द्राविड़ प्रभृति अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं तब मैं किस भाषा में बोलूं। संस्कृत सारे हिन्दुओं की भाषा है और समस्त भाषाओं का मूल है अतः संस्कृत बोलना ही उचित है।"

---

1. देखें, खण्ड-3, रचनाएँ, पृ०

लेकिन इसी कारण उनका कार्य-क्षेत्र विद्वानों और पण्डितों की पंचायत तक ही सीमित होकर रह गया था।

देश के प्रति उनके मन में अगाध ममता थी। सत्य की तलाश में नगर, वन पर्वत सभी कही घूमते-घूमते उन्होंने जनता की दुर्दशा और जड़ता को देखा था। लेकिन उससे उनका आत्मिक साक्षात्कार नहीं हो पाता था। भाषा का व्यवधान था। संकेतों की भाषा में भूख-प्यास मिटाई जा सकती है, नेत्रों की भाषा में किसी एक से प्यार तो किया जा सकता है पर जनता के रक्त-मांस-मज्जा में बस गयी जड़ता को दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक ऐसी स्थूल भाषा की भी आवश्यकता होती है जो घन की चोट कर सके।

स्वामी दयानन्द को उसी भाषा की तलाश थी। तलाश की इसी प्रक्रिया में सन् 1872 के अन्त में उन्होंने ब्रह्म समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय की नगरी कलकत्ता में प्रवेश किया। उन दिनों कलकत्ता में एक से बढ़कर एक विद्वान, साधक और महात्मा रहते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस, ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन, राजनारायण बसु, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पण्डित महेशचन्द्र तर्करत्न, पण्डित तारानाथ तर्क वाचस्पति अनेकों में ये कुछ नाम हैं।

इन महानुभावों से स्वामी जी आवागमन, अद्वैतवाद, होम, मूर्ति-पूजा आदि विषयों पर विचार करते थे। उनकी वाणी और शास्त्रों की व्याख्या सुनकर श्रोता मुग्ध हो उठते थे। वे यह विश्वास नहीं कर पाते थे कि एक कोपीन-कमण्डलधारी संन्यासी जो अंग्रेज़ी से एकदम अनभिज्ञ है, समाज-शास्त्र और धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार के परिमार्जित, उच्च और उदार विचारों का पोषण कर सकता है।

वहाँ के मनीषियों ने स्वामी दयानन्द के विचार पुस्तकाकार छपवाकर सारे देश में वितरित करने का प्रस्ताव भी किया। मथुरा के प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के बाद बंगाल के महापुरुषों ने ही स्वामी दयानन्द की शक्ति और क्षमता का सही आकलन किया। पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन सरीखे सुधारकों के मन में बार-बार यह विचार कौंध रहा था कि स्वामी जी को जनता से सीधे साक्षात्कार करना चाहिए। सदियों से नाना रूप रूढ़ियों, कुरीतियों और अंधविश्वासों में ग्रस्त जाति का अगर कोई उद्धार कर सकता है तो वह स्वामी जी हैं।

और एक दिन सचमुच बातों-ही-बातों में उन्होंने स्वामी जी से कहा, "यदि आप जनता के बीच में जाकर प्रचलित देशी भाषा में अपने विचार उसके सामने रखें तो निश्चय ही देश का बड़ा उपकार होगा। आपकी इच्छा की पूर्ति भी होगी।" उन्होंने यह भी कहा था कि प्रायः अनुवादक अनुवाद करते समय आपके मन्तव्यों को विकृत रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे आपके प्रति अन्याय होता है

इसलिये आपको बिना मध्यस्थ के जनता से सीधे बात करनी चाहिए और यह प्रचलित देशी भाषा में हो सकता है।

उन्होंने एक और सुझाव दिया था कि चूँकि स्वामी जी नारी-मुक्ति से प्रबल समर्थक हैं इसलिए नारियाँ उनके पास आएँगी। तब उन्हें वस्त्र भी धारण करने चाहिए।

सत्य के अन्वेषक उस कोपीनधारी संन्यासी ने तुरन्त ये दोनों प्रस्ताव स्वीकार कर लिये थे। यह प्रचलित देशी भाषा थी—'हिन्दी'। उन्हें जन-सम्पर्क के लिए जिस भाषा की तलाश थी वह उन्हें मिल गयी थी। वह न ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन की भाषा थी, न स्वामी दयानन्द की। वह देश की बहुसंख्यक जनता की भाषा थी।

स्वामी दयानन्द बहुत शीघ्र हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। उनका पहला भाषण हिन्दी में मई, 1874 में काशी में हुआ। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने लिखा है:

> "व्याख्यान भाषा में ही हुआ परन्तु संस्कृत बोलने के अभ्यास और भाषा बोलने के अभ्यास के कारण वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोल गये। भाषा में व्याख्यान देने का यह परिणाम तो अवश्य हुआ कि सर्वसाधारण अधिक संख्या में भाषण सुनने आने लगे परन्तु पण्डितों की उपस्थिति कम हो गयी।"[1]
>
> "दो वर्ष बीतते-न-बीतते उन्होंने अपने ग्रन्थ भी हिन्दी में बोलकर लिखवाने शुरू कर दिये। सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका सभी हिन्दी में प्रकाशित हुए। पत्र और विज्ञापन भी हिन्दी में ही होते थे। यह सच है कि इनमें न तो कोई काव्य है न उपन्यास और न नाटक, लेकिन यह भी सच है शास्त्रार्थ करते-करते उनकी भाषा में एक अद्भुत नाटकीयता आ गयी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत कुछ प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है।"

निरन्तर भाषण देते-देते और अपना मत प्रतिपादित करते-करते उन्हें एक ऐसी प्रभावकारी भाषा का प्रयोग करना पड़ा जो व्यंग्य-विनोद से पूर्ण थी। वे मुहावरों का भी सटीक प्रयोग करते थे। इससे भाषा में रोचकता तो पैदा हो ही जाती थी उसकी संरचना में भी एक ऐसी लचक, एक ऐसा लोच पैदा हो जाता था जो उसे अद्भुत रूप से प्राणवन्त और सम्प्रेषणीय बना देता था। मानना होगा

---

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, प्रथम भाग, पृ० 270

कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को व्यंग्य-विनोद से आप्लावित एक नयी शैली दी। भाषा को निखारा और प्राणवन्त बनाया। इसलिए उनका स्थान हिन्दी गद्य के निर्माताओं में सुरक्षित है।

आज हिन्दी साहित्य में जिस लघुकथा का पुनर्जन्म हुआ है उसका पूर्व रूप दृष्टान्त कथाओं में देखा जा सकता है। स्वामी जी अपने व्याख्यानों में प्रायः ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत करते थे। उनकी पुस्तक 'व्यवहारभानु' में ऐसी अनेक आख्यायिकाएँ संकलित हैं।

उनके आन्दोलन के कारण हिन्दी साहित्य पर और भी कई प्रभाव पड़े। उनका विवेचन इस पुस्तक में यथास्थान किया जा रहा है। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हिन्दी को उनका सबसे बड़ा योगदान वह नयी शैली है जिसकी हमने अभी चर्चा की है।

यह उपलब्धि क्या कम है ?

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उनकी प्रेरणा से ही गुरुकुलों में हिन्दी साहित्य के अनेक उपेक्षित अंगों पर मौलिक साहित्य का सृजन हुआ। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हुआ। मातृभाषा द्वारा ऊँची शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुलों को अभूतपूर्व सफलता मिली।

अभी इतना ही यथेष्ट है।

818, कुण्डेवालान
अजमेरी गेट
दिल्ली 110 006

—विष्णु प्रभाकर

खण्ड : एक

जीवन यात्रा । साधना एवं सर्जना

[1]

वर्ष सन् 1837 : स्थान—गुजरात के काठियावाड़ सम्भाग में मोरवी राज्य के अन्तर्गत एक छोटा-सा गाँव 'टंकारा'। टंकारा में एक शिव मन्दिर। शिवरात्रि का पवित्र त्यौहार। रात्रि जागरण और उपवास का व्रत लिये शिवभक्तों से भरे मन्दिर में गूँजती शिवस्तुति···

रात बीतती जा रही है। धीरे-धीरे भक्त ऊँघने और सोने लगते हैं लेकिन चौदह वर्ष का एक किशोर अभी भी जाग रहा है। उसने सुन रखा था कि सो जाने पर व्रत का फल नहीं मिलता। इसलिए वह बार-बार आँखों पर जल के छींटे मारता रहता है लेकिन तभी वह देखता है कि उसके पिता भी सो गये हैं।

पिता जिन्होंने माँ के बार-बार मना करने पर उसे विवश कर दिया था कि वह शिवरात्रि का निर्जल व्रत रखे और रात्रि जागरण करे। उन्होंने उसे चौदह वर्ष की आयु में पार्थिव पूजन करने पर विवश कर दिया था। वे ही पिता स्वयं सो गये। पुजारी भी सो गये। भक्त भी सो गये···

और तभी एक घटना घटी। एक छोटी-सी चुहिया कहीं से आयी और शिव-लिंग पर चढ़कर प्रसाद को खाने लगी। यह देखकर किशोर हतप्रभ रह गया। एक साधारण-सी चुहिया सर्वशक्तिमान शिव की मूर्ति पर चढ़कर प्रसाद खावे। क्या यह वही महादेव है जिसकी कथा मैंने सुनी है या कोई और? वह तो मनुष्य की तरह का एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता है, चलता-फिरता है, खाता-पीता है, त्रिशूल हाथ में रखता है, डमरू बजाता है, वर देता है, श्राप देता है और कैलाश का मालिक है···

बहुत देर तक ये प्रश्न उसके निर्दोष मन में उमड़ते-घुमड़ते रहे पर उसे उत्तर नहीं मिला। वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाया। आखिर उसने अपने पिता को जगाया। वह नींद में थे। कुछ क्रोध में पूछा, "क्या है?"

किशोर ने कहा, "आपने जिस महादेव की कथा सुनाई है वह तो चेतन है, लेकिन इस महादेव के ऊपर तो चुहिया चढ़ रही है। चेतन महादेव अपने ऊपर चुहिया क्यों चढ़ने देगा ?"

पिता नींद के कारण खीज तो रहे थे पर उन्होंने किशोर को समझाते हुए कहा, "असली महादेव तो कैलाश पर रहते हैं। कलियुग में उनके दर्शन नहीं होते। इसलिए हम उनकी मूर्ति बनाकर उनका आह्वान करते हैं, उनकी पूजा करते हैं। पाषाण की मूर्ति बनाकर और उसमें सच्चे शिव की भावना रखकर पूजा करने से कैलाश के शिव प्रसन्न हो जाते हैं।"

पिता फिर सो गये। किशोर की समझ में कुछ आया, कुछ नहीं आया। पर उसे लगा यह तो केवल पत्थर है, यह शिव नहीं हो सकता, पर जो सच्चा शिव है वह क्यों नही आ सकता। क्यों···

अब कौन दे उसके 'क्यों' का उत्तर। उसकी आस्था डगमगा गयी। उसके प्रश्नाकुल मन के भीतर विद्रोह का पहला अंकुर फूटा। उसे भूख भी लग रही थी। उसने पिता से कहा, "मैं घर जाऊँगा।"

नींद में ही पिता बोले, "सिपाही को साथ लेकर चला जा। लेकिन भोजन हरगिज़ मत करना।"

किशोर घर पहुँचा। उसे अब पिता की चिन्ता नहीं थी। उसने माँ से कहा, "मुझे भूख लगी है।"

माँ बोली, "मैंने तो पहले ही कहा था तू भूखा नहीं रह सकेगा, पर तेरे पिता नहीं माने।"

और उन्होंने किशोर को खाने के लिए मिठाई दी। कहा, "पिता से मत कहना।"

लेकिन दूसरे दिन सवेरे पिता को सब कुछ पता लग गया। वे क्रुद्ध हो उठे, बोले, "तूने यह बहुत बुरा किया।"

किशोर ने दृढ़ता से पिता की ओर देखा। मन में निरन्तर तुमुलनाद मचा हुआ था। प्रश्न उमड़-घुमड़ रहे थे। जी में आया कह दे, "जब यह कथा का महादेव नहीं है तो मैं इसकी पूजा क्यों करूँ ? मैं उसी सच्चे शिव के दर्शन करूँगा जो कैलाश का स्वामी है। लेकिन वह यह सब कह नहीं सका। इतना ही बोला, "मुझे पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता। पूजा कैसे करूँ···?"

पिता सन्तुष्ट नहीं हुए पर माँ और चाचा आदि के समझाने पर शान्त हो गये। लेकिन किशोर के अन्तर में विद्रोह का अंकुर जो फूट आया था वह उसे कुछ करने को उकसाने लगा और वह उचित समय की राह देखने लगा।

कौन था यह किशोर?

कोई कल्पना कर सकता था उस दिन कि कालान्तर में यही किशोर उन्नीसवीं

सदी के एक प्रखर और जुझारू समाज-सुधारक के रूप में विश्व-विख्यात होगा। चारों ओर फैले पाखण्ड, दम्भ, और अन्धविश्वासों पर घन की चोट करता हुआ भारत को वैज्ञानिक युग में ले जाने वाली राह दिखायेगा।

कौन था वह किशोर और कौन था वह प्रखर और जुझारू सुधारक ? किशोर का नाम था 'मूलशंकर' और सुधारक थे स्वामी दयानन्द सरस्वती। मूलशंकर से दयानन्द हो जाने तक की प्रक्रिया में कहीं विसंगति नहीं है। जो प्रश्नाकुलता किसी को महानता के मार्ग पर ले जाती है वह मूलशंकर में प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। वही उसे निरन्तर बने-बनाये मार्ग को त्यागने और नये की खोज के लिए उकसाती रही। वही उसे सच्चे शिव और सत्य की तलाश में आगे और आगे धकेलती रही। उसने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा लेकिन साथ ही अतीत मे जो शुभ, सुन्दर और गतिमय था उसी को आधार बनाकर नये और समृद्ध भविष्य का निर्माण किया। उसने बताना चाहा कि अपनी धरती से विच्छिन्न होकर हम कही नहीं पहुँच सकते, वैसे ही जैसे जड़ अपनी मिट्टी, अपनी हवा से अपने को काट लेगी तो वृक्ष पनप ही नही सकेगा।

बालक मूलजी (दयाराम भी) का जन्म सन् 1824 (भाद्रपद कृष्णा 9, गुरुवार, सम्वत्-1881) में गुजरात प्रान्त के काठियावाड़ सम्भाग में मोरवी राज्य (अब ज़िला राजकोट) के एक छोटे-से गाँव, टंकारा के एक समृद्ध सनातनी परिवार में हुआ था। पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवारी था। वे औदिच्य ब्राह्मण और शैवमत के कट्टर अनुयायी थे। वे राज्य के एक अधिकारी जमेदार (बहीवटदार) भी थे और साहूकार भी।[1] बालक मूलशंकर कभी स्कूल नहीं गये। उन दिनों यह सम्भव ही नही था। पिता की देख-रेख में उन्होंने संस्कृत और धर्म-शास्त्रों का पठन-पाठन किया। स्वामीजी के ही शब्दों में,

> "मैंने पाँचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया। मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता-पिता आदि दिया करते थे। बहुत-से धर्म-शास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादि भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष में मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री सन्ध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गयी थी। और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था और मेरे कुल में शैव मत था। उसी की शिक्षा भी दिया करते थे और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजा अर्थात् मिट्टी का लिंग बनाके तू पूजा कर। और माता मना करतीथी कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी। पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कुल की रीति है।···

---

1. देखें, नवजागरण के पुरोधा, दयानन्द सरस्वती, ले. डॉ. भवानीलाल भारतीय, पृ. 13-14

…तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठ-मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहाँ-तहाँ मन्दिर और मेल-मिलापों में ले जाया करते थे और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सबसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था और शब्द रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिताजी जहाँ शिव-पुराण आदि की कथा होती थी वहाँ मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे। और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु ज़मींदार और लेने-देने से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मना करने पर भी पार्थिव पूजन का पाठ आरम्भ करा दिया था।…"

इस आत्मकथन की पृष्ठभूमि में मूलशंकर की मानसिकता को समझा जा सकता है और समझा जा सकता है उस विद्रोह को जो शिव-रात्रि के जागरण के समय चुहिया को शिवलिंग पर चढ़कर प्रसाद खाते देखकर फूट पड़ा था।

[2]

जिस समय युवा होते मूलशंकर के मन में प्रश्नाकुलता उमड़-घुमड़ रही थी उस समय देश की क्या अवस्था थी। उनके जन्म होने तक अंग्रेज़ों का आधिपत्य बड़ी सीमा तक स्थापित हो चुका था। देशी राज्य धीरे-धीरे उनके अधिकार में आते जा रहे थे या करद राज्य बन रहे थे। मराठों की शक्ति प्रथम शताब्दी में टूट चुकी थी। छोटे-छोटे राज्यों में बँटकर वे आपस में लड़ रहे थे। पंजाब का सिख राज्य भी तब तक समाप्त हो चुका था जब किशोर मूलशंकर के मन में सच्चे शिव से साक्षात्कार करने की आकांक्षा उन्हें घर छोड़ने को विवश कर रही थी। मुग़ल नाममात्र को शासक रह गये थे। ऐश्वर्य-विलास और उत्तराधिकारी के षड्यंत्रों ने उन्हें खोखला कर दिया था।

दक्षिण में अंग्रेज़ अपनी चाल चल रहे थे। मैसूर में टीपू की शक्ति समाप्त हो रही थी। सुदूर केरल में वेलुतम्पी दलवा की सन् 1809-10 की क्रांति को कुचलने के बाद अंग्रेज़ों को वहाँ कोई डर नहीं रह गया था। उत्तर पूर्व में राजपूतों की शक्ति भी कभी की समाप्त हो चुकी थी। यद्यपि अभी भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध सामूहिक चेतना का अभाव था पर अपने-अपने राज्य की रक्षा के लिए जो बेचैनी शासकों में उभर रही थी वह धीरे-धीरे जनता को भी छू रही थी। उसके कारण कुछ और भी थे। विदेशी शासक अपने साथ अपनी सभ्यता और संस्कृति भी लाये थे बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनसे पहले ईसाई मिशनरी इस देश में आये। उन्होंने इस देश को सभ्य बनाने के लिए दो मार्ग अपनाये। एक था अपने

धर्म की श्रेष्ठता दिखाने के लिए हिन्दू धर्म पर, उसकी कुरीतियों का प्रदर्शन करके, सीधा आक्रमण। दूसरा, वहाँ की भाषा और यहाँ के व्यवहार सीखकर धीरे-धीरे अपनी धर्म-पुस्तकों का प्रचार करना और पीड़ित जनता की नाना रूपों में सहायता करना।

ऐसी अवस्था में जहाँ एक ओर हमारे ज्ञानचक्षु खुले। नयी सभ्यता के मुक्त प्रांगण में मुक्त होकर साँस लेने का अवसर मिला वहाँ दूसरी ओर उनके आक्रमण का जवाब देने के लिए हमने आत्म-मन्थन भी शुरू किया और अनुभव किया कि हमारे अतीत में जो कुछ शुभ और सुन्दर था उसे भूलकर हम रूढ़ियों, कुरीतियों और नाना प्रकार के पाखण्डों में फँस गये हैं। छूत-छात, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, नारी जाति का अपमान, कन्या-बध, सती-प्रथा, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, कोई अन्त नहीं इन दुष्कर्मों का। आवश्यकता उनसे मुक्त होने की है। ऐसा होने पर हम पश्चिम के आक्रमण का जवाब दे सकेंगे।

इस प्रक्रिया ने सबसे पहले बंगाल में विचार क्रांति को जन्म दिया। उसी के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता के जनक राजा राममोहन राय ने सबसे पहले इस प्रक्रिया को आन्दोलन का रूप दिया। बंगाल में ही तो सिरामपुर ईसाई विचारकों का सबसे बड़ा गढ़ था। इनका उद्देश्य चाहे जो रहा हो पर यह सच है कि इनकी कारण ही उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध तक, भारत में विशेषकर बंगाल में सामाजिक चेतना का उदय और विकास हुआ और यह एक संयोग ही है पर सुखद संयोग कि जिस वर्ष इस सारे ऊहापोह से दूर काठियावाड़ के एक छोटे-से गाँव में मूलशंकर का जन्म हुआ उसी वर्ष अर्थात् 1824 में राजा राममोहन राय ने अपने आंदोलन का श्रीगणेश किया।

स्वामी दयानन्द के जीवन की सामग्री की खोज में पच्चीस वर्ष खपा देनेवाले श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने राजा राममोहन राय के जन्म के समय की स्थिति का उल्लेख अपनी अलंकृत भाषा में इस प्रकार किया है :

> "राममोहन राय को जिस अन्धकार-जाल का प्रभेदन करके भारत-भूमि पर पदार्पण करना पड़ा था वह अति-प्रगाढ़, अति-विकट और अति-विस्तृत था। तंत्राचार्यगण उस तमोरात्रि के भीतर धर्म और धार्मिकता का नाम लेकर बहुत प्रकार के पापों का अनुष्ठान करते थे। नर-हत्या, सुरापान और पर-स्त्रीगमन आदि जुगुप्सित कार्य तंत्राचार्यों की उपासना के सहायक थे···। दूसरी ओर नाम साधन और नाम संकीर्तन आदि कार्य जैसी बाह्य वस्तु वैष्णव समाज में समाहित होते थे···मस्तक-मुण्डन, शिखा-धारण, मालाग्रहण, चन्दन-लेपन और अपने-अपने नाम के पीछे दासानुदास आदि शब्दों का प्रयोग आदि बाह्य व्यापार-समूह भक्ति-पथ के परम साधक समझे जाते थे

"···केवल यही नहीं, स्वाधीन चिन्तन और कर्तव्यनिष्ठा बंगभूमि से अन्तर्हित हो गयी थीं···।"[1]

मुखोपाध्याय महोदय और भी भयानक स्थिति से हमारा परिचय कराते है और राममोहन राय के बारे में लिखते हैं :

"राममोहन राय ने यह समझ लिया था कि हिन्दुओं का जातीय जीवन सर्वतोभावेन धर्म संसृष्ट है, इसलिए शिल्प के उद्धार से भी हिन्दुओं की उन्नति सम्भव नहीं है। यदि हिन्दुओं की उन्नति करनी है तो हिन्दुओं के धर्म की उन्नति करनी चाहिए। हिन्दुओं का धर्म सनातन ब्रह्मवाद है। अतएव सनातन ब्रह्मानन्द का उद्धार और उन्नति होने से ही हिन्दुओं का उद्धार और उन्नति हो सकती है। यह निश्चय करके वे एक वीर पुरुष की भाँति ब्रह्मवाद के प्रचार में प्रवृत्त हुए।"[2]

वे राममोहन राय को किसी नये धर्म का प्रवर्तक नहीं मानते थे। स्वयं राय महोदय ने लिखा है :

"अपने लिखे किसी ग्रंथ में या किसी मौखिक विचार में मैंने अपने को एकेश्वरवाद का संशोधक या आविष्कारक नहीं कहा है। अधिक क्या इस प्रकार का संकल्प मेरे अन्तःकरण में कभी उदित भी नहीं हुआ। मैंने अब तक जो ग्रंथ प्रकाशित किये हैं उन सब में यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मोपासना ही हिन्दू जाति का वास्तविक धर्म है और हमारे पूर्वपुरुष गण उसका ही अनुष्ठान करते थे।"[3]

उनकी कार्य-पद्धति की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं :

"उन्होंने एक ओर ब्रह्मोपासना की आवश्यकता का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर निर्दिष्ट दिनों में और नियमित समय पर सर्वसाधारण लोगों के साथ सम्मिलित होकर परब्रह्म की उपासना के लिए ब्रह्मसभा स्थापित की। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं किया। हम इसको ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा के

1. दयानन्द चरित, पृ० 45-46
2. वही, पृ० 47
3. वही, पृ० 50

विषय में यथोचित नहीं कह सकते। हो सकता है कि मनुष्य के समाज या चरित्र की नींव में धर्म को प्रतिष्ठित कर सकने पर भी मनुष्य जाति में धर्म परिपोषित हो जाये परन्तु पाषाण भूमि में बोये हुए बीज के समान वह शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। खेद है कि राममोहन राय अपने प्रचारित ब्रह्मवाद को ऐसी सुदृढ़ और सुनिश्चित भित्ति के ऊपर संस्थापित करने के उद्देश्य से आगे कुछ न कर सके। और वह जो न कर सके उसी को करने के लिए दयानन्द का आविर्भाव हुआ।"[1]

श्री मुखोपाध्याय ने स्वामी दयानन्द के आविर्भाव के विषय में जो कुछ लिखा वह ठीक हो सकता है पर राजा साहब के प्रति वे पूर्णतः न्याय नहीं कर पाये। वे ही तो पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सामाजिक प्रथाओं पर प्रहार करके समाज-सुधार का श्रीगणेश किया, जो कालान्तर में सारे भारत में व्याप्त हो गया। उन्हीं के अनथक परिश्रम के कारण सन् 1829 में सती-प्रथा के विरुद्ध क़ानून बन सका। उन्ही के प्रान्त के दूसरे महापुरुष थे श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, जो दया सागर भी थे, उन्होंने विधवा-विवाह के समर्थन में सन् 1856 में क़ानून बनवाया। उस युग में यह कम उपलब्धि नहीं है।

भारत के दूसरे छोर पर पश्चिम में एक और व्यक्ति हुए जिन्हें शायद ही कोई जानता हो। वे हिन्दू धर्म में व्याप्त कट्टरता, रूढ़िवाद तथा पाखण्ड के कटु आलोचक तथा स्वतंत्र एवं रूढ़ि मुक्त चिन्तन के प्रबल समर्थक थे। उनका नाम था मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी। उनका जन्म स्वामी दयानन्द से 15 वर्ष पूर्व सन् 1809 में आगरा में हुआ था पर वे रहे अधिकतर पंजाब में। जब स्वामी दयानन्द ज्ञान की खोज में भटक रहे थे तब सन् 1853 में उन्होंने सुधारवाद पर अपनी प्रथम पुस्तक लिखी थी। उन्होंने सन् 1860 में और इसके बाद पंजाब का व्यापक दौरा करके धार्मिक पाखण्डों पर तीव्र प्रहार किया। प्रो. केनेथ जान्स ने उन्हें कटुजिह्वा और तीखी कलमवाला एकाकी सुधारक कहा है। उन्होंने 1873 में लुधियाना में 'नीतिप्रकाश सभा' की स्थापना की। उन्होंने लिखा है,

"इस (हिन्दू) जाति की उन्नति होना कठिन है। क्योंकि आर्य-ऋषियों की सन्तान आज पेड़-पत्थर तथा नदियों की पूजा करने लगी है।···वेदों तथा धर्म शास्त्रों में प्रतिपादित आचार के स्थान पर आज के हिन्दू मिथ्या सदाचारों का ही पालन कर रहे हैं।"[2]

---

1. दयानन्द चरित, पृ० 56
2. महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी : श्री भवानीलाल भारतीय, पृ० 71

ढूंढने पर ऐसे और भी नींव के पत्थर मिल सकते हैं। बेशक इन महानुभावों को व्यापक सफलता नहीं मिली, शुरू में कभी किसी को मिलती भी नहीं पर किसी भी महान क्रान्ति की नींव में ऐसे ही कर्मठ व्यक्ति होते हैं। इन्हीं जैसों की नींव पर बाद में आनेवाली महापुरुष सफलता के राजमहल खड़े करते हैं।

[3]

प्रत्येक मनुष्य का जन्म माँ के गर्भ से होता है। वह सृष्टि का अलिखित पर अकाट्य नियम है पर जो मनुष्य इस संसार में नयी राहें खोजने आते हैं उनका जन्म कम-से-कम एक बार और होता है जब उन्हें ताला खुलने की कुंजी[1] मिल जाती है या वह कुंजी ढूंढ़ने का संकल्प पैदा हो जाता है। शिवरात्रि की उस रात बालक मूलशंकर के मन में वही संकल्प पैदा हो गया था। विश्व में ऐसी अनेक घटनाओं के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने इस घटना से सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन की धारा को ही बदल कर रख दिया। राजकुमार सिद्धार्थ ने एक रोगी, एक वृद्ध और एक शव को देखा। उनके मन में प्रश्न जाग उठा—मनुष्य की क्या यही नियति है? कैसे विजय पायी जा सकती है इन पर? और इस प्रश्न ने उन्हें सिद्धार्थ से तथागत बुद्ध बना दिया। गुरुनानक एक व्यापारी की दुकान पर अनाज तोल रहे थे। उन दिनों तराजू हाथ में लेकर तोलते थे और हर बार बोलते रहते थे एका, दूजा, तीजा, चौथा आदि। नानक ने तोलते-तोलते तेहरवी बार पलड़े में अनाज भरा और पुकारा—तेरा तेरा। और उसी क्षण उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये। जब सब कुछ तेरा है तब मैं तुझे ही पाने का मार्ग क्यों न खोजूं। और उसे खोजते-खोजते सिख पंथ के प्रथम गुरु नानक बन गये। यही रामदास के साथ हुआ। विवाह की वेदी पर बैठे थे। संस्कार कराते समय नियम के अनुसार पुरोहित जी ने पुकारा 'सावधान' और उसी क्षण रामदास के अन्तर में बिजली कौंधी—"रामदास सावधान हो जा। यह विवाह तेरे मार्ग की बाधा है।" और वे उसी क्षण विवाह वेदी से उठकर चले गये। यह रामदास से समर्थ गुरु रामदास बनने की प्रक्रिया का आरम्भ था। मराठा साम्राज्य के संस्थापक महाराज शिवाजी के प्रेरणा गुरु यही समर्थ रामदास थे। और अपने युग में कौन जानता था कि यह साधारण बुद्धिवाला बालक मोहनदास एक दिन भारत को दासता के पाश से मुक्त करानेवालों में अग्रणी राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के नाम से विश्वविख्यात हो जाएगा। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में बैरिस्टरी करते समय एक दिन गोरों ने उनको प्रथम श्रेणी के डिब्बे से सामान सहित नीचे फेंक दिया। प्रथम श्रेणी में गोरों के अतिरिक्त और किसी को यात्रा करने का अधिकार नहीं था।

---

1. कुंजी बता दूं मैं तुझे ताला खुलन की—**कबीर**

शीतकाल की उस घनघोर अँधेरी रात में प्लेटफ़ार्म पर खुले आसमान के नीचे बैठे गांधी जी के मन में तुमुल नाद गूँजता रहा। एक आवाज़ कहती है—'तुझे क्या पड़ी इन लोगों के झगड़े में पड़ने की। तू अपने देश लौट जा। वहीं आराम से बैरिस्टरी करना।' तभी दूसरी आवाज़ आती है—'तेरे देशवासी अपमान की जिन्दगी बिता रहे हैं यहाँ। क्या उनके अपमान से तेरी आत्मा नही तड़पती ? क्या तू उनके सम्मान के लिए संघर्ष नहीं करेगा ?'

ये ही आवाजें बार-बार गूँजती रही। एक-दूसरे को काटती रहीं। सवेरा होते न होते उसने निश्चय किया—"मैं मनुष्य का अपमान नहीं होने दूंगा। मैं उन्हें बताऊँगा कि अन्याय का प्रतिकार करना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।"

मूलशंकर के मन में भी उस दिन सच्चे शिव की तलाश का संकल्प जागा। उसके बाद वह निरन्तर अध्ययन और स्वतंत्र चिंतन में लीन रहने लगा। उसने उस किसी भी बात को मानने से इंकार कर दिया जो इसीलिए मानने योग्य है क्योंकि वह परम्परा से चली आ रही है या किसी घर के बड़े का उसे मानने का आदेश है। उसका विद्रोही मन बार-बार कुछ करने को आतुर हो उठता था। किशोर तो सपने देखा ही करते हैं। फिर मूलशंकर जैसा प्रश्नाकुल मन का किशोर हो तब तो बेचैनी और भी बढ़ जाती है।

वह अपने सपनों को चरितार्थ करने की राह देख ही रहा था कि अगले पाँच वर्षों में दो ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने उसके अशान्त मन को और भी अशान्त बना दिया। यद्यपि ऊपर से वह अभी शान्त था और अध्ययन कर रहा था। उसी के शब्दों में :

> "फिर निघण्टु, निरुक्त और पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता रहा। और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझसे छोटी एक बहन, फिर उससे छोटा एक भाई। फिर एक बहन और एक भाई अर्थात दो बहन और दो भाई और हुए। तब मेरी सोलह वर्ष की अवस्था हुई थी। पीछे मुझसे छोटी चौदह वर्ष की जो बहन थी उसको हैज़ा हुआ। एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की। तथापि चार घण्टे में उस बहन का शरीर छूट गया। तब लोग रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊँगा। सोच-विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी नहीं बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे वह दुख छूटे और मुक्ति हो अर्थात इसी समय मेरे चित्त में वैराग्य की

जड़ पड़ गयी परन्तु यह विचार अपने मन में ही रखा किसी से कुछ भी न कहा।"

स्वामी जी की आत्म-कथा के ये अंश हमने उनकी हस्तलिखित रचना में से दिये हैं। इससे अधिक प्रामाणिक और क्या हो सकता है। वैसे उन्होंने पुणे (पूना) में व्याख्यान देते समय भी अपनी आत्म-कथा बताई थी। उसमें मूल भावना और घटनाओं में तो कोई अन्तर नहीं है पर वर्णन में है, जैसे बहन की मृत्यु की चर्चा करते हुए वे कहते हैं :

"उसकी मुमूर्षु दशा को देखकर मेरे (से) भिन्न परिवार के सब लोग विलाप और रोदन करने लगे। इसलिए पिता और माता तक भी मुझको पाषाण हृदय कहने लगे। मैं उस अभूतपूर्व घटना को देखकर अतीव आतंकित हो गया था और इस कारण मैं उनके समान विलाप या अश्रुपात नहीं कर सका था। यह कहना बाहुल्यमात्र ही है। उसके पश्चात उनकी आज्ञा के अनुसार शैया पर जाकर सोने की चेष्टा की परन्तु मैं तनिक भी न सो सका। अस्तु ऐसी शोकावह घटना के अपने सामने एक बार संघटित होने पर भी मैं अपने देश की अद्भुत रीति के अनुसार एक बार भी शोक प्रकट न कर सका। इस कारण मैं अपने कुटुम्बियों की दृष्टि में निन्दा का पात्र बन गया।"[1]

तीन वर्ष बाद उनके प्यारे चाचा जी भी स्वर्ग सिधार गये। उसका और उसके बाद घर छोड़ने तक का वर्णन उनकी हस्तलिखित प्रति में इस प्रकार है :

"इतने में 19 वर्ष की जब अवस्था हुई तब जो मुझसे अति प्रेम करनेवाले बड़े धर्मात्मा विद्वान मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा। माता-पिता ने विचारा कि इसका विवाह शीघ्र कर देना चाहिए। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता-पिता को समझा दो कि ये अभी विवाह न करें। तब उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका। तब तक बीसवाँ वर्ष पूरा

1. यह अन्तर इसलिए भी है क्योंकि वह अनुवाद की भाषा है। मूल भाषण हिन्दी में हुआ। समाचार पत्रों में छपा मराठी में अनूदित होकर। यह रूपान्तर मराठी से किया गया है।

हो गया। तब मैंने पिता जी से कहा कि मुझे काशी भेज दीजिए जिससे कि मैं ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रंथ पढ़ पाऊँ। तब माता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे। जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो, और अगले साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़कीवाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है। जितना पढ़ा है वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़कर आऊँ तब विवाह होना ठीक है। तब माता भी विपरीत हो गई। (कहा) कि हम कहीं नहीं भेजेंगे और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर कोश ग्राम में अपनी ज़मींदारी थी। वहाँ एक अच्छा पण्डित था। माता-पिता की आज्ञा ले के वहाँ जाकर उस पण्डित के पास में पढ़ने लगा। और वहाँ के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता फिर माता-पिता ने मुझे बुलाके विवाह की तैयारी शुरू कर दी। तब तक इक्कीसवाँ वर्ष भी पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित् न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप सम्वत् 1903 (सन् 1846) के वर्ष घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा।"

और यहाँ आकर स्वामी दयानन्द के जीवन का एक पर्व समाप्त हो गया। पिता ने क्षणिक भेंट के अतिरिक्त उसके बाद कुटुम्बी जनों से उनका मिलन कभी नहीं हुआ। गृहत्याग के बाद बुद्ध तो घर लौटे थे क्योंकि वे प्रिय पत्नी और पुत्र को छोड़ गये थे पर दयानन्द ने उस बन्धन में बँधने से पूर्व ही गृह त्याग दिया था। इसीलिए उन्हें लौटना नहीं पड़ा।

पुणे के व्याख्यानवाली आत्मकथा और इस आत्मकथा के इस अंश में भी थोड़ा अंतर घटनाओं में नहीं उनके वर्णन में है। यूँ तो इस अंश को भी नाना जीवनीकारों ने नाना रूपों में अंकित किया है। सर्जक अपने शिल्प से ही नीरस वर्णन को सरस बना देता है। पुणे के व्याख्यानवाला अंश तो अनेक बार अनूदित होने के बाद निश्चय ही अपना मूल रूप खो बैठा होगा। स्वामी जी के परम भक्त देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी सहज काव्यमयी भाषा में उसे इस प्रकार अंकित किया है :

"जब मेरी उम्र उन्नीस वर्ष की थी तब मेरे पितामह[1] ने विशूचिका रोग में

---

1. पितामह का अर्थ होता है दादा जबकि स्वामी जी के हस्तलेख वाले अंश में 'चाचा' शब्द का प्रयोग हुआ है। वास्तव में वे चाचा ही थे। अनुवादकों की कृपा से पितामह बन गये।

ग्रस्त होकर प्राण त्याग किये। जिस समय पितामह मुमूर्ष दशा को प्राप्त हुए उस समय मुझको अपनी शैया के पास बुलाकर मुझे बैठने के लिए आज्ञा की और मेरे मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देखकर अश्रुधारा प्रवाहित करने लगे। मैं भी उनको उस अवस्था में देखकर इतना व्यथित हुआ कि अत्यन्त रोने के कारण मेरी दोनों आँखें सूज गयीं। वस्तुतः इस घटना के पहले मैंने कभी इतना रोदन नहीं किया था। इसके अतिरिक्त इस घटना के पश्चात् मैं यह चिन्ता भी करने लगा कि मुझको भी इसी प्रकार से काल कवल बनना पड़ेगा। तब क्रमशः मृत्यु चिन्ता बहुत प्रबल हो गई तो मैं अपने बांधवों से पूछने लगा कि किस् उपाय का अवलम्बन करके अमरत्व पाया जा सकता है। स्वदेश के पण्डितों ने मुझको योगाभ्यास करने का परामर्श दिया इसलिए मैंने गृह परित्याग करने का संकल्प किया। उस समय मेरी आयु बीस वर्ष की थी। मुझको शान्त और स्वच्छन्द चित्त करने के उद्देश्य से पिता की यह इच्छा थी कि जमींदारी के कामकाज का भार मेरे ऊपर अर्पित करे परन्तु मैं उससे सहमत नहीं हुआ। तब पिता ने मुझको विवाह-शृंखला में बाँधने का संकल्प किया। जब विवाह की बातचीत होती थी तो मैं अपने बन्धुओं से कह दिया करता था कि मैं कभी विवाह नहीं करूँगा। परन्तु वे उसका प्रतिवाद किया करते थे। जब कभी विवाह के विषय में बांधवगण मुझसे अनुरोध करते, तब ही मैं उनसे विवाह के बदले गृहत्याग की अनुमति की प्रार्थना किया करता था। मेरे देखते-देखते एक मास के भीतर ही विवाह सम्बन्धी सब सामग्री प्रस्तुत हो गयी। यह देखकर एक दिन सायंकाल को बन्धु विशेष से साक्षात्कार करने के उपलक्ष्य से मैं घर से बाहर निकल पड़ा।"

मूल घटना की दृष्टि से इन दोनों अंशों में विशेष अंतर नहीं है। दूसरा अंश अनुवाद है। इसलिए भाषा की बात भी अनदेखी की जा सकती है फिर भी दोनों अंशों में एक अंतर है। वह है भावना और आंतरिकता का। पहला अंश यथातथ्य और शुष्क है। वहीं दूसरे अंश के वर्णन में मन का उद्वेग प्रगट हुआ है। यह उद्वेग ही तो सर्जन का प्राण है। साधारण-सी यथातथ्य घटना कैसे काव्य का रूप ले सकती है यह इन दो अंशों से स्पष्ट है। दूसरे अंश में कल्पना की कितनी गुंजाइश है। उस कल्पना से कथा न तो विकृत होती है, न असत्य। बस सुरम्य हो जाती है। चाचा को रोते देखकर मूलशंकर का व्यथित होकर रो पड़ना। लेकिन साथ ही मृत्यु-चिन्ता से मुक्त होकर अमर होने की कामना। इतना ही काफ़ी है मूलशंकर के अन्तर्मंथन के लिए।

लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि जैसे-जैसे मूलशंकर यौवन की ओर अग्रसर होता गया वैसे-वैसे उसका मन मादक कल्पनाओं में खो रहने के स्थान पर मृत्यु को लेकर

अनेक प्रश्नों में उलझता चला गया। क्यों है यह मृत्यु ? कैसे मिलेगी इससे मुक्ति ? कौन दिखायेगा मुझे वह राह···

इन्हीं प्रश्नों को वह मित्रों से पूछता। उनसे परिचर्चा करता। उन मित्रों में एक इब्राहीम खान भी था। जाति का मुसलमान पर मृत्यु तो सभी की होती है। शायद इब्राहीम के पास कोई जवाब हो, पर जवाब कहीं नहीं था। प्रश्न ही प्रश्न थे, तब उसने मन ही मन निश्चय किया कि वनों में अनेक योगी और महात्मा रहते हैं। उन्होंने अवश्य मृत्यु को जीता होगा। मुझे उनके पास जाना चाहिए।

और वह उनकी तलाश में निकल पड़ा। उसके बाद उसने पीछे मुड़कर नहीं देखा।

जिस समय उसने सत्य और अमरत्व की खोज में अपनी यात्रा शुरू की उसकी आयु इक्कीस वर्ष की थी। यौवन की आकांक्षाओं और उमंगों ने निश्चय ही उसके मार्ग में बाधाएँ खड़ी की होंगी। वह उनसे जूझा होगा लेकिन उसे तो दयानन्द बनना था। अमरत्व की खोज में बार-बार विष पीना था। वे बाधाएँ उसे नहीं रोक सकीं। सन् 1846 से सन् 1860 तक के पन्द्रह वर्षों में वह नाना रूप कटु और मधुर अनुभवों में से गुज़रते हुए आगे और आगे बढ़ता रहा। कोई तो उसके प्रश्न का उत्तर देगा। कोई तो उसे राह दिखायेगा।

उस रोमांचक यात्रा का वर्णन उसी के शब्दों में इस प्रकार है :

"फिर गुपचुप सम्वत् 1903 (सन् 1846) के वर्ष घर छोड़ के संध्या के समय भाग उठा। चार कोस पर एक ग्राम था। वहाँ जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठके 15 कोस चला परन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच-बीच में नित्य चलने का आरम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़कर चला गया। उसके खोजने के लिए सवार और पैदल यहाँ तक आये थे। जो मेरे पास थोड़े से रुपये और अँगूठी आदि आभूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया। मुझसे कहा कि तुम पक्के वैराग्यवादी तब होंगे जब कि पास की चीज़ सब पुण्य कर दो। फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था सब दे दिया। फिर लाला भगत की जगह जो कि सामने के शहर में है वहाँ बहुत से साधुओं को सुनकर चला गया। वहाँ एक ब्रह्मचारी मिला। उसने मुझसे कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ। उसने मुझको ब्रह्मचारी (ब्रह्मचर्य) की दीक्षा दी और शुद्ध चैतन्य मेरा नाम रखा तथा काषाय वस्त्र भी धारण करा दिये।

जब मैं वहाँ से अहमदाबाद के पास कौठ गांगड जोकि छोटा-सा राज्य

है वहाँ आया[1] तब मेरे गाँव के पास का जान-पहचान वाला एक वैरागी 'मिला। उसने पूछा कि तुम कहाँ से आये और कहाँ जाया चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया (हूँ) और कुछ देशभ्रमण किया चाहता हूँ। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया। मैंने कहा कि हाँ मैंने घर छोड़ दिया और कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर को जाऊँगा। फिर भी वहाँ से चलकर सिद्धपुर में आके नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहाँ दण्डीस्वामी और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो कोई महात्मा वा पण्डित मेले में सुन पड़ा उन सबके पास गया और उनसे सत्संग किया।

जो मुझको काँठ गांगड़ में वैरागी मिला था उसने फिर मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषाय वस्त्र धारण किये मुझको मिला और कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया। ऐसा सुन के सिपाहियों के साथ पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोज कर पता लगा के जहाँ पंडितों के बीच में मैं बैठा वहाँ पहुँचकर मुझसे बोले कि तू हमारे कुल में कलंक लगाने वाला पैदा हुआ (है)। जब मैंने पिताजी की ओर देख के (देखा) उठके चरण स्पर्श किया। नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये। मैं किसी आदमी के बहकाने से चला आया? मैंने बहुत दुख पाया। अब मैं घर को आनेवाला था। परन्तु अब आप आये यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ-साथ घर को चलूँगा। तो भी क्रोध के मारे (उन्होंने) मेरे गेरू के रँगे वस्त्र और तूंबे को तोड़ फार (फोड़) के फेंक दिये और वहाँ भी बहुत कठिन-कठिन बातें कहकर बोले कि तू अपनी माता की हत्या किया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूँगा तो भी मेरे साथ-साथ सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और इस पर रात्रि को भी पहरा रखो परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था।

सो, जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पहरे वाला बैठा-बैठा सो गया उसी समय मैं लघुशंका का बहाना करके भागा। आध कोस पर एक मन्दिर के शिखर में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिप कर बैठ रहा। जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों

1. एक दूसरे स्थान पर स्वामीजी ने एक राजमहिषी की बात लिखी है। वह उनके साथ परिहास करने लगी थी। तब वे उससे दूर रहने लगे थे। वैरागियों के हँसी उड़ाने पर उन्होंने रेशमी वस्त्र त्याग दिये थे। यहाँ तीन मास ठहर कर वे कार्तिक के महीने में सिद्धपुर के मेले में चले गये। उसी मार्ग पर उनकी मुलाकात जान-पहचान के व्यक्ति से हुई थी।

में से एक सिपाही (को) मालियों से मुझको पूछता (है) सुना तब मैं और भी छिप गया। ऊपर बैठा सुनता रहा। वे लोग ढूंढ़ कर चले गये। मैं उसी मन्दिर के शिखर में दिनभर रहा…।"

स्वामी जी के जीवन में एक छोटा-सा अनचाहा पड़ाव और आया और उसने उनके निश्चय को और भी दृढ़ कर दिया। कैसी लगन थी अमरत्व को, सत्य को खोजने की उस युवक में कि बिना झिझक के पिता को कैसा भ्रमित किया और बिना उद्विग्न हुए बचने का रास्ता खोज लिया। लेकिन क्या सचमुच, युवक मूलशंकर के मन में झंझावात नहीं उमड़ा होगा। जब पिता ने उन्हें मातृहन्ता कहा तब क्या उन्हें अपनी उसी ममतामयी माँ की याद ने विकल नहीं किया होगा, जिसने सदा पिता के क्रोध से उसकी रक्षा की।

लेकिन उन्होंने यह भी सोचा होगा कि यही माँ मुझे विवाह के बन्धन में बाँधने को सबसे अधिक व्यग्र है। यदि मुझे अमरत्व की चाह है तो मुझे माँ की ममता का मोह भी छोड़ना होगा।

और सचमुच उस मोह से सदा के लिए मुक्ति पाकर वह एक बार फिर पिता के बनाये चक्रव्यूह को तोड़ कर भाग निकला। उसी के शब्दों में :

"जब अन्धेरा हुआ[1] तब उस पर से उतर सड़क को छोड़ के किसी से पूछा कि दो कोस पर एक ग्राम था उसमें ठहर के अहमदाबाद होता हुआ बड़ोदरा शहर में आकर ठहरा। वहाँ चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं। और ब्रह्म हूँ अर्थात् जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया। प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु (अब) ठीक दृढ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। फिर वहीं बड़ौदरे में एक बनारसी बाई बैरागी का स्थान सुनकर उसमें जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुईं। फिर वहाँ सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी ब्रह्मचारी और विद्वान ब्राह्मण रहते हैं। वहाँ जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर सम्भाषण हुआ। फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्त सार आर्य्या हरि मीड़े तोटक वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़े

---

1. पुणेवाले व्याख्यान में उनके शब्द हैं, "जिस समय सन्ध्या का अन्धकार छा गया उस समय मैं वृक्ष से नीचे उतरा और अपने देश और बन्धुजन से सारे जन्म के लिए विदा होकर भागने लगा।"

महीनों में विचार कर लिया। उस समय ब्रह्मचर्यावस्था में कभी-कभी अपने हाथ से रसोई बनानी पड़ती थी। इस कारण से विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहाँ जो दीक्षित स्वामी विद्वान थे उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जोकि अब तक बना है। तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है इसलिए हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोस भर मकान जोकि जंगल में था उसमें ठहरे, उनको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्ती पण्डित और मैं दोनों उनके पास जाके शास्त्र-विषयक सम्भाषण करने से मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान हैं और वे शृंगेरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे। उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे उस वेदान्ति के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं। यह मैं ठीक जानता हूँ कि किसी प्रकार का अवगुण इनमें नहीं है। इनको आप संन्यास दे दीजिये। संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो मा (महा) राष्ट्री हैं। तब उसने कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इसमें क्या चिन्ता है। तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास की दीक्षा दंड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रखा। परन्तु मैंने दंड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के सामने कर दिया क्योंकि दंड की भी बहुत-सी क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था।

फिर वे स्वामी जी द्वारिका की ओर चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद कन्याली में रह के व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं। उनके पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिनौर शहर के बाहर रहते थे उनको सुनके व्याकरण पढ़ने के लिए उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोद में आकर ठहरा। यहाँ दो योगी मिले। जिनका नाम ज्वालानन्द पुरी और शिवानन्द गिरि था। उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुईं और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहाँ हम नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहाँ आओगे तो योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे।

वहाँ से वे अहमदाबाद को चले गये. फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी। फिर

आबूराज पर्वत में योगियों को सुन के वहाँ जाके अर्वदा भवानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों से मिल के कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के सम्वत् 1911 (1854) के वर्ष के अन्त में हरिद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु-संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चंडी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब ऋषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।"

यह है उन्हीं के शब्दों में उनके घर छोड़ने के उपरान्त नौ वर्ष तक ज्ञान की खोज में भटकने की कहानी। इस यथातथ्य वर्णन में बहुत कुछ है जो अनकहा रह गया है। फिर भी मूलशंकर से ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य और ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य से संन्यासी दयानन्द सरस्वती बनने तक की यह गाथा ज्ञान प्राप्ति के प्रति उनकी अद्भुत ललक और सत्य की खोज में निकल पड़ने के बाद पीछे मुड़कर न देखने के दृढ़ निश्चय की साक्षी तो है ही।

इस विवरण में उन्होंने कहीं भी तात्कालिक धर्म और उसके संरक्षक या दावेदार साधु-संन्यासियों सन्तों-महन्तों पर आक्षेप नहीं किया है लेकिन कुम्भ के मेले में एकत्रित लाखों श्रद्धालु पर अज्ञानी व्यक्तियों को धूर्त साधुओं और पण्डों द्वारा ठगे जाते तो देखा ही होगा। और यह तो एकदम स्पष्ट है कि वे किसी से भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं हुए। अभी तक कहीं भी उन्हें ताला खुलने की कुंजी नहीं मिली। वे सीखते रहे और आगे बढ़ते रहे। उनका घर, परिजन, प्रियजन तो पहले ही छूट गये थे अब प्रदेश भी छूट गया। मातृभाषा में बात करने के अवसर भी अब कम ही मिलेंगे। संन्यासी बन जाने के पश्चात् उसका अपना कुछ भी नहीं रह जाता। सब उसके होते हैं और वह सबका। फिर भी मनुष्य सपने तो मातृभाषा में ही देखता है। गुजरात से बाहर आकर उन्होंने सरल संस्कृत के अतिरिक्त बोलचाल की भाषा हिन्दी के भी कुछ शब्द सीखे ही होंगे।

[5]

सन् 1854 (सम्वत् 1911) तक उनकी यात्राओं के प्रथम पर्व की समाप्ति हो जाती है उनकी उम्र तीस वर्ष की हो चुकी थी। उद्दाम यौवन को उन्होंने साध लिया था। ऋषिकेश से वे टिहरी आये और वहाँ से शुरू हुई उनकी नगाधिराज हिमालय की रोमांचक यात्रा। हिमालय देवाधिदेव शंकर का स्थान है और उनकी यात्रा सच्चे शंकर की खोज में ही तो शुरू हुई थी। उन्ही के शब्दों में :

"फिर वहाँ से (ऋषिकेश से) एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ आये। हम सब जने टिहरी में आये। वहाँ बहुत साधु और राज-पण्डितों से समागम हुआ। वहाँ एक पण्डित ने एक दिन मुझे और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन करने के लिए निमंत्रित किया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया। तब मैं और ब्रह्मचारी उसके भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुस के देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था। उसको देखकर जब भीतर गये तब बहुत-से पण्डितों को एक सिमियाने के भीतर बैठे देखा और वहाँ बकरे का मांस, चमड़ा और सिर देख के पीछे लौटे। पण्डित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उत्तर दिया कि आप अपना काम कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कहकर अपने स्थान पर चले आये। तब पण्डित भी हमको बुलाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो। हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पण्डित बोले कि आपके लिए तो सब पदार्थ बनाये हैं। मैंने उनसे कहा कि आपके घर में मुझसे भोजन कदापि न किया जायेगा। क्योंकि आप लोग मांसाहारी हैं। और मुझको देखने से घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया। पीछे वहाँ कुछ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन-से शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण, काव्य, कोष, ज्योतिष और तंत्र-ग्रंथ बहुत मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र-ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने छोटे-बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भगिनी, चमारी, चांडाली आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना। मद्य-मांस, मच्छी, मदिरा अर्थात् ब्राह्मण से ले के चांडाली पर्यन्त एकत्र भोजन करना और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना। इन पाँच मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख के चित्त को खेद हुआ कि जिसने ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्ट बुद्धि थे।

फिर वहाँ से श्रीनगर को जाके केदारघाट पर मन्दिर में ठहरे और वहाँ भी तंत्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में सम्वाद होता रहा। इतने में एक गंगागिरि साधु जोकि पहाड़ में ही रहता था, उससे भेंट हुई। और योग विषय में कुछ बातचीत होने से विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है। कई बार उससे बातें हुईं। मैंने उससे पूछा, उसने उत्तर दिया। उसने मुझसे पूछा, उसका उत्तर मैंने दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महीने तक वहाँ रहे। जब वर्षा ऋतु आयी तब आगे रुद्र प्रयागादि देखता हुआ अगस्त मुनि के स्थान पर पहुँच कर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहाँ जाकर चार महीने निवास करके पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी

को यहाँ छोड़ कर अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्तकाशी में पहुँचा। वहाँ कुछ दिन रहकर वहाँ से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरी कुण्ड देखता हुआ भीमगुफा देखकर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुँचकर निवास किया। वहाँ कई एक साधु, पण्डे और केदार के पुजारी जंगम मत के थे, उनसे समागम हुआ। तब तक पाँच-छ: दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्म-चारी भी वहाँ आ गये। वहाँ का सब चरित्र देखा। फिर इच्छा हुई कि इन बर्फ़ के पहाड़ों में भी कुछ घूम के देखें कि कोई साधु महात्मा रहता (है) वा नहीं परन्तु मार्ग कठिन और उन पहाड़ों में अति शीत भी है। वहाँ के निवासियों से भी पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु-महात्मा रहता है वा नहीं। उन्होंने कहा कि कोई नहीं। वहाँ बीस (दिन) रहकर पीछे को अकेला ही लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रहकर शीत से घबराकर प्रथम ही चले गये थे। फिर मैं वहाँ से चल के तुंगनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया। उसका मन्दिर, पुजारी (और) बहुत-सी मूर्ति आदि की सब लीला देखकर तीसरे पहर वहाँ नीचे को उतरा। बीच में से दो मार्ग थे। एक पश्चिम को और एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को जाता था। जो जंगली मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे दूर जाकर देखा तो जंगल पहाड़ और बहुत गहरा सूखा नाला है। उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर चढ़े तो रात हो जावेगी। पहाड़ का मार्ग कठिन है। वहाँ पहुँच नहीं सकता। ऐसा विचार उस नाले में बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ नीचे उतर कर नाले के किनारे पर चढ़कर देखा तो पहाड़ और जंगल है, कहीं भी मार्ग नही। तब तक सूर्य अस्त होने को आया। विचारा कि रात हो जावेगी तो वहाँ जल, अग्नि कुच्छ भी नहीं है। फिर क्या करेंगे, ऐसा विचार कर आगे को बढ़ा। जंगल में चलते अनेक ठोकर और काँटे लगे। शरीर के वस्त्र भी फट गये। बड़ी कठिनता से पहाड़ के पार उतरा। तब सड़क मिली। और अन्धेरा भी हो गया। फिर सड़क-सड़क चल के एक स्थान मिला। वहीं के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है। कहा कि ओखी मठ की। फिर वहाँ रात्रि को रहकर क्रम से गुप्तकाशी आया। वहाँ थोड़ा ठहर कर ओखीमठ जाकर उसमें ठहर के देखा तो बड़ी भारी पोपलीला बड़े भारी कारखाने। वहाँ के महन्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ, यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ (में) हो जायेंगे। मेरे पीछे तुम्हीं महन्त होगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो, ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता-पिता, बन्धु, कुटुम्ब और घर आदि ही क्यों छोड़ता। क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो। मैंने जिसलिए सब छोड़े हैं वह तुम्हारे पास किंचित् मात्र भी नहीं हैं। उसने पूछा कि यह क्या बात है।

मैंने उत्तर दिया कि सत्य, विद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा की पवित्रता आदि गुणों से धर्मात्मतापूर्वक उन्नति करना है। तब महन्त ने कहा कि अच्छा तुम कुछ दिन यहाँ रहो। मैंने उनको कुछ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठ के मार्ग में चल के जोशीमठ को पहुँच के वहाँ के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिलकर वहाँ ठहरा।[1]

और (वहाँ) बहुत से योगियों और विद्वान महन्तों और साधुओं से भेंट हुई और उनसे वार्तालाप में मुझ को योग विद्या सम्बन्धी और बहुत नयी बातें ज्ञात हुईं।

उनसे पृथक् हो पुनः मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान रावल जी उस समय उस मन्दिर का मुख्य महन्त था। और मैं उसके साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद-विवाद रहा। जब उनसे मैंने पूछा कि इस परिस्थिति में कोई विद्वान और सच्चा योगी भी है या नहीं, तो उसने यह जताने में शोक प्रगट किया कि इस समय इस परि-स्थिति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि प्रायः ऐसे योगी इसी मन्दिर को देखने के लिए आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि समस्त देशों में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूँगा।[1]

···एक दिन सूर्योदय के होने ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचा। मेरे मन में उस नदी के पार करने की किंचित इच्छा न थी क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा ग्राम माना नामक देखा। अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रखकर नदी के वेग के साथ-साथ मैं जंगल की ओर हो लिया। पर्वत मार्ग और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुए थे। और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अतः अलखनन्दा नदी के स्रोत तक पहुँचने में मुझको अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े। परन्तु जब मैं वहाँ गया तो अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अजाना जाना और अपने चारों ओर ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ देखी तो मुझे जाने का मार्ग बन्द दिखायी दिया। कुछ ही काल पश्चात पथ सर्वथा लुप्त हो गया और उस मार्ग का मुझको कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच और चिन्ता में था कि क्या करना चाहिए। अंततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैंने नदी को पार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुए वस्त्र बहुत हलके और थोड़े थे और शीत

1. स्वामी जी की हस्तलिखित आत्मकथा यहीं तक मिल पायी है। वे कैसी हिन्दी लिखते थे इस दृष्टि से इस पुस्तक में इसका महत्त्व है।

अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया तो एक हिम का टुकड़ा खाकर उसको बुझाने का विचार किया। परन्तु उससे किंचित आराम या संतुष्टि प्रतीत न हुई। पुनः मैं नदी में उतरकर उसे पार करने लगा।

कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी और कहीं पानी बहुत कम था परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गड्ढा कहीं न था। किन्तु विस्तार में अर्थात पार में दस हाथ तक था अर्थात कहीं से चार गज कहीं से पाँच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पांव को अति घाव युक्त कर दिया तो मेरे नग्न पांव से रक्त बहने लगा। मेरे पाँव शीत के कारण नितान्त सुन्न हो गये थे। जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा। इस स्थान पर अतिशीत के कारण मुझ पर अचेतनता-सी छाने लगी। यहाँ तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहाँ पर इसी प्रकार गिर गया तो पुनः यहाँ से उठना मेरे लिए अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। अतएव दौड़-धूप करके जैसे हुआ मैं पबल प्रयत्न करके वहाँ से कुशल मंगलपूर्वक निकला और नदी के दूसरी ओर जा पहुँचा। वहाँ जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही जो जीवित की अपेक्षा मृतवत थी तथापि मैंने अपने शरीर के उपरिभाग को सर्वथा नंगा कर लिया और अपने समस्त वस्त्रों से जो मैंने पहने हुए थे जानु या पाँव तक जंघा को लपेट लिया। और वहाँ पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले जिससे मैं आगे को चलूं। परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहाँ से? सहायता की आशा में था परन्तु सर्वथा विवश था और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखायी नहीं देता। अन्त को पुनः एक बार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुए देखा जो मेरे समीप आये अपने काश सम्भ (?) से मुझको प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिए बुलाया और कहा, "आओ हम तुमको वहाँ खाने को भी देवेंगे।"

जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना और वृत्त को श्रवण किया तो कहने लगे, हम तुमको सिद्धपत्त पर भी जो एक तीर्थ स्थान है पहुँचा देवेंगे। परन्तु उनका मुझको यह सब कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया और कहा, "महाराज शोक। मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मुझमें चलने की किंचित शक्ति नहीं है।"

यद्यपि उन्होंने मुझको बहुत आग्रहपूर्वक बुलाया और आने के लिए अत्यधिक अनुरोध किया तथापि मै वहीं अपने पाँव जमाये खड़ा रहा और उनकी आज्ञा या इच्छानुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहाँ से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूँ। ऐसा कहकर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बन्द कर दिया अर्थात् पुनः उन्हें न सुना। उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मै लौट जाता और अपने पाठ को स्थिर रखता। इतने में वह दोनों सज्जन वहाँ से चले गये और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये।

वहाँ जब मुझे शान्ति प्राप्त हुई तो मैं भी आगे को चला और कुछ काल वसुधारा पर विश्राम करके माना ग्राम के निकटवर्ती प्रदेश में होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे बद्रीनारायण जा पहुँचा। मुझे देखकर रावल जी और उनके साथी जो घबराये हुए थे, विस्मय प्रकाशपूर्वक पूछने लगे, "आज सारा दिन तुम कहाँ रहे।"

तब मैंने सब वृतान्त क्रमबद्ध सुनाया। उस रात्रि कुछ आहार करके जिससे मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी मै सो गया। दूसरे दिन प्रातः शीघ्र ही उठा और रावल जी से आगे जाने की आज्ञा माँगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर की ओर चल पड़ा।

उस सायं चलता-चलता एक योगी के घर पहुँचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्च कोटि के ऋषि होने का गौरव रखता था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उसका-मेरा वार्तालाप हुआ। अपने संकल्प को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रातः उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिलका घाटी से उतरकर मैं अन्ततः रामपुर पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर मैंने प्रसिद्ध रामगिरि के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अति प्रसिद्ध था। मैंने उसको विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया। अर्थात् वह सोता नहीं था, बस सारी-सारी रातें उच्च स्वर से बातें करने में व्यतीत करता। वह बातें प्रकट में अपने साथ करता हुआ प्रतीत होता था। प्रायः हमने उच्च स्वर से चीख़ मारते हुए उसे सुना। पुनः कई बार सोते हुए और चीख मारते हुए सुना। पर वस्तुतः जब उठकर देखा तो उसके कमरे में उसके अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखायी न दिया। मैं ऐसी वार्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ। जब मैंने उसके चेलों और शिष्यों से पूछा तो उन बेचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि ऐसी इनकी प्रकृति ही है।"

पर मुझे यह कोई न बता सका कि इसका क्या रहस्य है। अन्त को स्वयं जब मैंने उस साधु से कई बार एकान्त में चर्चा की तो मुझे ज्ञात हो गया कि वह क्या बात थी ! इस प्रकार मैं इस (यह) निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है वह पूरी-पूरी योग विद्या का फल नहीं है, प्रत्युत् पूरी में अभी उसे न्यूनता है और यह वह वस्तु नहीं कि जिसकी मुझे जिज्ञासा है। यह पूरा योगी नहीं यद्यपि योग में कुछ गति रखता है।

उससे (वहाँ से) चलकर मैं काशीपुर गया। यहाँ से द्रोणसागर जा पहुँचा। वहीं मैंने सारा शरद ऋतु काटा। हिमालय पर्वत पर पहुँचकर देह त्याग करना चाहिए, ऐसी इच्छा हुई। परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात देह छोड़ना चाहिए। अतः वहाँ से मुरादाबाद होता हुआ सम्भल पहुँचा। वहाँ से गढ़मुक्तेश्वर होते पुनः गंगा तट पर आ निकला। उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्नलिखित पुस्तकें भी थीं—शिव संध्या, हठयोग प्रदीपिका, केशराणि संगीत।

प्रातः मैं इन्हीं पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था। उनमें से कई पुस्तकों का विषय नाड़ीचक्र था पर उनमें इस विषय का ऐसा लम्बा-चौड़ा विवरण था कि पुरुष पढ़ता-पढ़ता थक जाता। मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका और न ही समझकर स्मरण कर सका। अतः मुझे विचार हुआ कि न जाने ये सत्य भी हैं वा नहीं। ऐसा सन्देह होता ही गया यद्यपि मैं अपने संशय मिटाने का प्रयत्न करता रहा परन्तु ये सन्देह दूर न हुए और न ही उनके दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ।

एक दिन देव संयोग से एक शव मुझे नदी में बहते हुए मिला। तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी परीक्षा करता और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे उनका निर्णय करता। सो उन पुस्तकों को जो मेरे पास थीं, समीप ही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा मैं नदी के भीतर गया और शीघ्र वहाँ जा शव को पकड़ तट पर आया। मैंने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका उसे यथायोग्य काटना आरम्भ किया और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की। अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा। ऐसे ही शिर और ग्रीवा के अंगों को काटकर सामने रखा। यह निश्चय करके कि दोनों अर्थात् पुस्तक और शव लेशमात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़कर उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और शव को फेंक साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक दिया। उसी समय से शनैः-शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों, उपनिषदों, पातंजल और सांख्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें, जो विज्ञान और विद्या पर लिखी गयी हैं, मिथ्या और

अशुद्ध हैं। ऐसे ही कुछ दिन और गंगा के तीर पर विचरते हुए फर्रुखाबाद पहुँचा और श्रृंगीरामपुर से होकर छावनी की पूर्व दिशा वाली सड़क से कानपुर जाने वाला था जब सम्वत् 1912 (सन् 1855) विक्रम सम्वत् समाप्त हुआ।"

हिमालय-यात्रा उनकी चिर दिन की साध थी। उन्हें विश्वास था कि वहाँ अवश्य उनकी भेंट सच्चे साधुओं-गुरुओं से होगी। परन्तु एक वर्ष तक अगम पथों पर भटकने के बाद भी वे सफल-काम न हो सके। वहाँ उनका शरीर ही नहीं घायल हुआ मन पर भी चोट लगी। सब कहीं बस पोप लीला-ऐश्वर्य का प्रदर्शन-मांसाहार और तांत्रिक आचार, झूठे ग्रन्थ, दम्भी साधु, अज्ञान के अन्धकार में भटकती जनता। आत्मा-परमात्मा में कही सम्वाद नही। कहाँ छिपा है वह सच्चा शिव? कैसे मिलेगी इस जड़ता से मुक्ति? कब होगा उदय सत्य का सूर्य—कैसी वेदना से गुज़रे होंगे वे इस एक वर्ष में। आत्महत्या तक का विचार उठा मन में। पर जो सत्य का अन्वेषक है वह कैसे हार सकता है। तलाश जारी रहेगी। इसलिए ज्ञान की प्यास प्रबल होती गयी—विशेषण क्षमता और सत्य को पाने की चाह इतनी बढ़ी कि शव को चीर डाला और अकेले निकल पड़े बर्फ़ीले अन्धकार में भटकने। कहीं तो सत्य होगा, कहीं तो सच्चा योगी मिलेगा। चरैवेति-चरैवेति, चलते रहो, बस चलते रहो।

और वह शाश्वत यायावर चलता ही रहा।

[6]

सम्वत् 1912 विक्रम (सन् 1855) भी समाप्त हो गया। पर नहीं समाप्त हुई उनकी खोज-यात्रा। उन्हीं के शब्दों में :

सम्वत् 1913 वि० (सन् 1856) अगले पाँच मास में कानपुर वा प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे। भाद्रपद के आरम्भ में मिर्ज़ापुर पहुँचा। वहाँ एक मास से अधिक अशोल जी के मन्दिर में निवास किया। असूज (असौज-आश्वन) के आरम्भ में काशी पहुँचा। वहाँ जाके मैं उस गुफ़ा में ठहरा जो वरणा और गंगा के संगम पर है। और जो उस समय भवानन्द सरस्वती के अधिकार में थी। वहाँ पर कई शास्त्रियों अर्थात काकाराम, राजाराम आदि से मेरा परिचय हुआ परन्तु वहाँ केवल बारह ही दिन रहा।

तद्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था उसके अर्थ आगे को चल दिया।

और असूज सुदी 2 सं० 1913 को दुर्गाकुण्ड के मन्दिर पर जो चण्डालगढ़ में है, पहुँचा। वहाँ दस दिन व्यतीत किये। यहाँ मैंने चावल खाना सर्वथा छोड़ दिये और केवल दूध पर निर्वाह करके दिन-रात योग विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दुर्भाग्यवश वहाँ मुझे एक बड़ा दोष लग गया अर्थात् भाँग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई बार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता। एक दिन मन्दिर से निकलकर चण्डालगुढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम आता था तो (वहाँ) एक पुराना साथी मिला। ग्राम के दूसरी ओर कुछ ही दूर एक शिवालय था। यहाँ जाकर मैंने रात काटी। रात्रि के समय भाँग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था तो मैंने एक स्वप्न देखा···मैंने महादेव और उनकी स्त्री पार्वती को देखा। वे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे और उनकी बातों का पात्र मैं था, पार्वती महादेव से कहती थी, "उत्तम हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जाये।" परन्तु देवता इससे भेद प्रकट कर रहे थे और उनका संकेत भाँग की ओर था।

मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा तब मुझे बड़ा दुःख और क्लेश हुआ। उस समय धारासार वर्षा हो रही थी। मैंने उस बरामदे में जो मन्दिर के मुख्य द्वार के सम्मुख था, विश्राम किया। वहाँ नन्दी वृष देवता की एक विशाल मूर्ति खड़ी थी। अपने वस्त्र पुस्तकादि उसकी पृष्ठ पर रखकर मैं उसके पीछे बैठ गया और निज विचार में निमग्न हुआ। सहसा नन्दी मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उसमें छिपा हुआ है। मैंने अपना हाथ उसकी ओर फैलाया इससे वह अति भयभीत हुआ क्योंकि मैंने देखा कि उसने तत्काल छलाँग मारी और छलांग मारते ही वेग से गाँव की ओर भागा। तब उसके जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया और अवशिष्ट रात्रि-भर वहाँ सोता रहा। प्रातःकाल एक वृद्धा वहाँ आयी। उसने वृष देवता की पूजा की जिस अवस्था में कि मैं भी उसके अन्दर बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी। मेरी पूजा करके और भ्रान्ति से मुझे ही देवता समझकर उसने कहा, "आप इसे ग्रहण कीजिये और इसमें से कुछ खाइये।"

मैंने क्षुधार्त होने के कारण यह सब खा लिया। दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अतः भाँग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया। उससे मादकता जाती रही और मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ।"

इसके बाद आरम्भ होती है उनकी रोमांचक यात्रा नर्मदा नदी के स्रोत की खोज में। यह वह सत्य है जब भारत में अंग्रेजों के प्रति असन्तोष तीव्र हो रहा था।

विशेष रूप से सेना में । वे विद्रोह करने की योजना बना रहे थे । उस समय कहते हैं संन्यासी दयानन्द का भी उससे सम्बन्ध रहा है । इस तथ्य पर प्रकाश डालनेवाला कोई प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं । इतना ही कह सकते हैं—सन् 1857 के शुरू में नर्मदा की खोज में निकलने के कुछ समय बाद से लेकर सन् 1860 में श्री विरजानन्द जी के पास पहुँचने तक वह कहाँ रहे, इसका पता नहीं लगता । इस आत्मकथा में भी स्वामी जी यात्रा का पूरा विवरण प्रस्तुत नहीं करते । पुणेवाले व्याख्यान में वे इन प्रसंगों को बिलकुल ही नहीं छूते । यह रहस्यमयता ही इस बात का प्रमाण मानी जाती है कि वे इस अवधि में 1857 की क्रान्ति से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध थे । हो सकता है पर जब तक अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते । हम नर्मदा के स्रोत के खोज के अधूरे वर्णन को उनकी शाश्वत यात्रा का एक अंग ही मानेंगे । वह अपने आपमें अत्यन्त रोमांचक और उनके अदम्य साहस, निर्भीकता और इच्छा शक्ति की प्रतीक है । उन्हीं के शब्दों में :

"चैत्र 1914 (मार्च, 1857) वहाँ से आगे चला और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे और जहाँ से नर्मदा निकलती है अर्थात नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की । मैंने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा । प्रत्युत् दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया । शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़ निर्जन स्थान में पहुँच गया जहाँ चारों ओर बहुत घने वन और जंगल थे । वहाँ जंगल में अनियमित दूरी पर बिना क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ झोंपड़ियाँ थीं । कही-कहीं पृथक्-पृथक् ठीक झोंपड़ियाँ भी दृष्टिगोचर होती थी । इन झोंपड़ियों में से एक पर मैंने किंचित् दुग्धपान किया और पुनः आगे की ओर चल दिया । परन्तु इसके आगे लगभग पौन कोस चलकर मैं पुनः एक ऐसे स्थान पर पहुंचा जहाँ कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखायी नही देता था । अब मेरे लिए यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे-छोटे मार्गों में से (जिन्हें मैं न जानता था कि कहाँ जाते हैं) कोई एक चूनूं और उस ओर चल दूं । सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन वन में प्रविष्ट हुआ । उस जंगल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे । परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था । वहाँ मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ । वह पशु बड़े वेग और उच्च स्वर में चीखा । चिंघाड़कर अपनी पिछली टाँगों पर खड़ा हो मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला । कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा । पश्चात् शनैः-शनैः मैंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया । उससे भयभीत हो वह उलटे पांव लौट गया । उसकी चिंघाड़ की गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्रामवाले जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुनकर लट्ठ ले शिकारी कुत्तों

सहित मेरी रक्षार्थ वहाँ आये। उन्होंने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूँ। वे बोले, "इस जंगल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत या वन में बहुत से भयानक, क्रूर और हिंसक जंगली पशु अर्थात रीछ, हाथी, शेर आदि तुमको मिलेंगे।"

मैंने उनसे निवेदन किया कि आप मेरे कुशल-मंगल का कुछ भय न करें। क्योंकि मैं कुशल-मंगल और रक्षित हूँ। मेरे मन में तो यही सोच थी कि किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे जब उन्होंने देखा कि उनकी भयानक बातें मेरे लिए कोई भय उत्पन्न नहीं करतीं और मैं अपने संकल्प में पक्का हूँ तो उन्होंने मुझे एक दण्ड दिया जो मेरे सोटे से बड़ा था और जिससे मैं अपनी रक्षा करूँ। परन्तु मैंने उस दण्ड को तुरन्त अपने हाथ से फेंक दिया।

उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार न छाया मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। कई घण्टों तक मानव बस्ती का मुझे कोई चिह्न न मिला। दूर-दूर तक कोई ग्राम दिखायी न दिया। कोई झोंपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी और न कोई मनुष्य जाति मेरी आँखों के सामने आयी। पर वह वस्तुएँ जो प्रायः मेरे मार्ग में आयीं, वृक्ष थे। उनमें से अनेक टूटे पड़े थे कि जिनकी जड़ों को मस्त हस्तियों ने तोड़ और उखाड़कर फेंक दिया। इससे कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखायी दिया। उसमें प्रवेश करना कठिन था अर्थात बेर आदि काँटे वाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उनके भीतर से निकलकर वन में पहुँचना अति दुष्कर, प्रत्युत् असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उसके भीतर से निकलना असम्भव दिखायी दिया परन्तु पीछे पेट के बल और जानू के सहारे मैं शनैः-शनैः सर्पवत उन वृक्षों में से निकला और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की। इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझको अपने शरीर के मांस को भी भेंट करना पड़ा। मैं इसमें से घायल और अधमरा होकर निकला। उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका हुआ था और दिखायी न देता था तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को छोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ही आवेगा। अतएव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा। अन्त में मैं एक ऐसे भयानक स्थान में पहुँचा कि जहाँ चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे कि जिन पर घनी औषधियाँ और वनस्पतियाँ उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्य वास के वहाँ कुछ-कुछ चिह्न और संकेत पाये जाते थे।

अस्तु। शीघ्र ही मुझे कई झोंपड़ियाँ और कुटियाएँ दिखायी पड़ीं।

उनके चारों ओर गोबर के ढेर लगे हुए थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी-सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत-सी बकरियाँ चर रही थीं। झोंपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों में-से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखायी देता था जो जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था। मैंने वहाँ एक विशाल वृक्ष के नीचे जो झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था, रात्रि व्यतीत की। प्रातः उठकर मैं क्षत पाँव, हाथ और दण्ड को नदी जल से धोकर संध्या व प्रार्थना के लिए बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु की गर्ज मेरे कर्णगोचर हुई। वह ध्वनि 'टमटम' का उच्च स्वर था। कुछ काल पश्चात मैंने एक बड़ी सवारी या जनसमूह को आते हुए देखा। उसमें बहुत-से स्त्री-पुरुष और बालक थे। उनके पीछे बहुत-सी गौएँ और बकरियाँ थीं। वे एक झोंपड़ी या घर से निकले। अनुमान है कि वे किसी धार्मिक त्योहार की रस्में पूरी करने के लिए जो रात्रि को हुआ, आये थे। जब उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे उस स्थान में एक अनजान पुरुष जाना तो बहुत से मेरे चारों ओर एकत्र हुए। अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़कर मुझसे पूछा, 'तुम कहाँ से आये हो।' मैंने उन सबसे कहा कि मैं काशी से आया हूँ और अब नर्मदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिए जा रहा हूँ। इतना पूछकर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़कर चले गये। उनके आध घण्टा पश्चात उनका एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया और एक दिशा में बैठ गया। वह वस्तुतः सबकी ओर से प्रतिनिधि बनकर मुझे अपनी झोंपड़ियों में बुलाने को आया था परन्तु पूर्ववत मैंने अब भी उसका निमंत्रण अस्वीकार किया क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे। तब उसने अपने साथ वालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश दिया और दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रि-भर मेरी रक्षा करते हुए जागते रहे। जब उसने मुझसे मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पीकर निर्वाह करता हूँ तो उस दयावान अध्यक्ष व नेता ने मुझसे मेरा तूम्बा माँगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया और वहाँ से उसे दूध से भरकर मेरे पास भेज दिया। मैंने उस रात्रि उसमें से थोड़ा-सा दूध पिया। वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देने वालों के ध्यान में छोड़कर लौट गया। उस रात्रि मैं घोर निद्रा में सोया और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने संध्या आदि से अवकाश प्राप्त करके मैं उठा और यात्रा के लिए चला।"

यहाँ आकर स्वामी जी द्वारा लिखित आत्मकथा समाप्त हो जाती है। कोई नहीं जानता वे स्रोत पर पहुँचे या नहीं। रहे तो कहाँ रहे। इतना ही पता लगता

है कि वे तीन वर्ष बाद सम्भवतः 1860 में मथुरा में प्रकट हुए। पुणे वाले व्याख्यान में वे न हिमालय यात्रा का वर्णन करते हैं न नर्मदा के स्रोत की खोज-यात्रा का। अहमदाबाद से सीधे हरिद्वार, कुम्भ के मेले में फिर वहाँ से अलकनन्दा नदी पर पहुँच जाते हैं।

"हरिद्वार से मैं हिमालय के उस स्थान को चला गया जहाँ से अलखनन्दा निकली है। अलखनन्दा के जल में किसी वस्तु विशेष के आघात लगने से मेरे पाँव ऐसे आहत हुए कि उनमें से रक्त की धारा बह निकली। मैं उससे इतना व्यथित हुआ कि बर्फ़ राशि के बीच में गिरकर मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मेरे लिए, प्राण त्याग करना ही वांछनीय है। किन्तु मेरी ज्ञान स्पृहा अतीव प्रबल थी इस हेतु मैं उस कार्य से प्रतिनिवृत हो गया और मथुरा में विरजानन्द नामक सुपण्डित साधु के पास चला आया।"

इस प्रकार सच्चे शिव और सत्य की खोज में उनकी जो यात्रा सन् 1846 में आरम्भ हुई थी वह सन् 1860 में गुरु विरजानन्द के पास पहुँच कर समाप्त हो जाती है और इसी के साथ समाप्त हो जाता है उनके जीवन का दूसरा पर्व।

[7]

स्वामी दयानन्द के जीवन का तीसरा पर्व अत्यन्त संक्षिप्त पर उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उनकी भटकन समाप्त हो गयी थी उन्हें सच्चा गुरु मिल गया। उस गुरु ने उन्हें वह राह दिखायी जिसकी उन्हें तलाश थी।

वे सन् 1860 के अन्त में 14 नवम्बर को विरजानन्द जी के पास पहुँचे। उस समय उनकी आयु 36 वर्ष की हो चुकी थी लेकिन ज्ञान की प्यास आयु की सीमा नहीं स्वीकार करती। जब स्वामी की नर्मदा के अंचल में सत्य की खोज में भटक रहे थे तभी किसी ने उन्हें दंडी स्वामी विरजानन्द का पता दिया था।

स्वामी दयानन्द ने अपने पुणे वाले व्याख्यान में विरजानन्द जी के बारे में इतना ही कहा :

"मथुरा में विरजानन्द नामक सुपण्डित साधु के पास चला आया। विरजानन्द पहले अलवर में रहते थे। उस समय उनकी आयु 81 वर्ष की थी। एक ओर विरजानन्द की दृष्टि में जहाँ वेदादि आर्षग्रन्थों की प्रगाढ़ प्रतिष्ठा थी वहाँ दूसरी ओर शेखर, कौमुदी प्रभृति आधुनिक पुस्तकों में उनकी बड़ी अश्रद्धा थी। वे भागवतादि पुराणों के बहुत ही विरुद्ध थे। विरजानन्द अन्धे थे और उनको उदर की पीड़ा थी। मैंने उनके पास वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। यहाँ जोशी अमरलाल नामक एक सुहृदय व्यक्ति अध्ययन विषय में

मेरी विशेष रूप से सहायता करने लगे। भोजन और ग्रन्थादि के सम्बन्ध में उदार सहायता के लिए मैं जोशी अमरलाल का बहुत ही बाधित हूँ। वे भोजन के विषय में उतने सयत्न थे कि पहले मुझे खिलाये बिना आप भोजन नहीं करते थे···।"

इनके सम्बन्ध में और बातें भी मालूम हुई हैं। विरजानन्द जी व्याकरण के परम पण्डित थे। अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार से बड़े दुखी थे। अनुशासन प्रिय थे। जो उनके पास अध्ययन के लिए आता था उसे उनकी दो शर्तें माननी होती थीं। पहली शर्त यह थी कि जो अनार्ष ग्रन्थ हैं उन्हें त्यागना होगा। दूसरी यह है भोजन तथा अध्ययन के लिए आवश्यक दूसरी सामग्री का प्रबन्ध स्वयं करना होगा।

स्वामी दयानन्द अब तक बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके थे। अध्ययन भी बहुत किया था। ग्रन्थों का ही नहीं, व्यक्तियों का भी। वे साधारण विद्यार्थी नहीं थे। ढाई वर्ष के अल्पकाल में उन्होंने न केवल महाभाष्य ही पढ़ा बल्कि उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, योग-सूत्र, वेद-वेदांग इन सबका भी अध्ययन किया। विरजानन्द जी यद्यपि काफ़ी सख्त थे, शारीरिक ताड़ना देने तक से नहीं चूकते थे परन्तु वैसी ही पारदर्शी दृष्टि भी थी। व्यक्ति को पहचानने में ग़लती नहीं करते थे। स्वामी दयानन्द को भी पहचान लिया उन्होंने। इतना विनम्र, इतना सौम्य पर कैसी प्रखर बुद्धि, इसीलिए जब अध्ययन समाप्त हो गया और विदा लेने की बेला आयी तब स्वामी दयानन्द ने गुरु-दक्षिणा के रूप में कुछ लौंग उनके चरणों में रखीं। अर्थ तो वे लेते ही नहीं थे। मन-ही-मन मुस्कराकर स्वामी विरजानन्द ने कहा, "दयानन्द ! मुझे लौंग नहीं चाहिए लेकिन जो कुछ चाहिए वह तुम्हीं दे सकते हो।"

दयानन्द बोले, "आदेश दीजिये गुरुदेव।"

"मेरा आदेश", विरजानन्द ने धीर-गम्भीर वाणी में कहा, "मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ। प्रतिज्ञा करो कि आर्यावर्त में अनार्ष ग्रन्थों की महिमा स्थापित करोगे। अनार्ष ग्रन्थों का खंडन करोगे और भारत में वैदिक धर्म की स्थापना में अपने प्राण तक अर्पित कर दोगे।"

उस क्षण चरण छूकर दयानन्द ने गुरु का आदेश शिरोधार्य किया और जीवन भर उसी का पालन करते रहे। उसके बाद के उनके जीवन की कहानी इसी विसर्जन की कहानी है। यह मई, 1863 की घटना है। वे वहाँ से आगरा पहुँचे और दो वर्ष वहाँ रहे। वह अभी यह निश्चय नहीं कर पा रहे थे कि यह कार्य कहाँ से और कैसे आरम्भ करें। सिद्धान्त को व्यवहार में परिणित करने पर समस्याएँ उभरती ही हैं। इन दिनों उनका रुझान शैवमत की ओर अधिक था। वे वैष्णव मत का खंडन करते थे। आगरा से वे ग्वालियर गये तो वहाँ वे खुले रूप में वैष्णव

मत का खंडन करने लगे। जयपुर पहुँचते-पहुँचते तो उन्होंने वहाँ के पण्डित हरिश्चन्द्र को जो वैष्णव थे शास्त्रार्थ में पराजित करके शैव मत को प्रतिष्ठित कर ही दिया। स्वयं जयपुर नरेश इसके पृष्ठ-पोषक हो गये।

लेकिन वे अभी भी संशयग्रस्त थे कि क्या शैवमत सत्य और युक्तिसंगत है। शिव की तलाश में उन्होंने घर छोड़ा था वह क्या यही है, वे फिर मथुरा आये और अपने मन की दुविधा से गुरुजी को परिचित कराया। नहीं मालूम किन शब्दों में गुरुजी ने उनका समाधान किया पर जब वे लौटे तो समझ गये थे कि उन्हें क्या कहना है। गुरुजी से यह उनकी अन्तिम भेंट थी।

सन् 1863 में विद्याध्ययन समाप्त करने के लगभग चार साल बाद मार्च, 1867 में वे हरिद्वार पहुंचे। अगले माह अप्रैल में वहाँ कुम्भ था।

[8]

कुम्भ के मेले में हरिद्वार में सन् 1855 में भी आ चुके थे। तब वे यहाँ की अवस्था देखकर बहुत दुखी हुए थे लेकिन चूंकि उन्हें अभी राह नही मिली थी वे कुछ नहीं कर सके थे। पर अब वे संशय मुक्त थे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि जो असत्य है उसका वे नाश करेंगे, जो सत्य है उसका प्रचार करेंगे।

इसलिए उन्होंने इस मेले से ही पाखंड पर प्रहार करने का श्रीगणेश किया। अपार जन समूह तक पहुँचने का ऐसा अवसर फिर न जाने कब मिले। सारा भारत ही तो वहाँ एकत्रित होगा।

वे अकेले थे पर सत्य ज्ञान के प्राप्त हो जाने के कारण उनमें अद्भुत आत्म-बल पैदा हो गया था। उन्होंने अपने वस्त्र फाड़कर एक पताका तैयार की और उस पर लिखा 'पाखंड खंडनी'। उसे अपनी कुटिया पर फहरा कर अधर्म अनाचार और धार्मिक शोषण के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह उनके जीवन के स्वर्णिम चतुर्थ पर्व का आरम्भ था जो 1883 में उनके देहावसान के साथ ही समाप्त हुआ। संशय और दुविधा के क्षण तो फिर भी आये पर जब वे स्वयं चिन्तन-मनन के साथ उनका निराकरण कर सकते थे। वे जड़ नहीं थे और जो चेतन है वह निरन्तर विकसित होता रहता है। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

यहाँ उन्होंने एक और व्रत लिया। जो कुछ उसके पास था उसे त्याग कर और केवल कोपीन धारण करके प्राचीन ऋषियों की भांति चिन्तन-मनन और तप में लीन हो गये। उनका लक्ष्य मात्र आत्मशुद्धि नहीं था। वे तो जनता की शोषण से मुक्ति के उपाय खोजना चाहते थे। कुम्भ मेले में उन्हें जो अनुभव हुए उससे उनकी अनिश्चितता एकदम दूर हो गयी। वे अब अपने अन्तर में परम शान्त थे। हरिद्वार

के बाद वे राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में घूमते रहे और अपनी दृष्टि से सद्धर्म का प्रचार करते रहे।

प्रारम्भ में वे जहाँ भी जाते विज्ञापन छपवाकर जनता में बँटवा देते। उनमे उनका आग्रह रहता कि जनता जो आठ सत्य हैं उन्हें ग्रहण करे और जो आठ गप्प हैं, उनका त्याग करे[1] :

आठ गप्प : (1) मनुष्यकृत पुराणादि ग्रन्थ (2) पाषाणादि पूजन (3) वैष्णवादि सम्प्रदाय (4) तन्त्र ग्रन्थों में वर्णित वाम मार्ग (5) भाँग आदि नशे (6) परस्त्री-गमन (7) चोरी (8) कपट छल अभिमान।

आठ सत्य : (1) ईश्वर रचित वेदादि 21 शास्त्र (2) ब्रह्मचर्यव्रत-धारण करके गुरु सेवा और अध्ययन (3) वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए संध्या-वन्दन करना (4) पंच महायज्ञ करते हुए श्रौत स्मार्तादि द्वारा निश्चित आचार का पालन। (5) शम दम नियम आदि का पालन करते हुए वानप्रस्थ-आश्रम का ग्रहण (6) विचार विवेक वैराग्य पराविद्या का अभ्यास, संन्यास-ग्रहण (7) ज्ञान विज्ञान द्वारा जन्म-मरण शोक, हर्ष, काम, क्रोध सब दोषों का त्याग (8) तम-रज का त्याग, सतोगुण का ग्रहण।

वे अपने व्याख्यानों में इन्हीं की चर्चा करते और पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देते। लेकिन अभी वे संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करते थे। इससे जनता अभी उनसे दूर थी। पर पण्डित लोग बहुत परेशान थे। उन्होंने स्वामी जी को विमुख करने के सभी प्रयत्न किये। यहाँ तक कि कई बार उनके प्राणों पर भी आक्रमण किया गया।

स्वामी जी 22 अक्तूबर 1869 के दिन काशी पहुँचे। काशी मात्र संस्कृत का ही नहीं बल्कि हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा और सशक्त केन्द्र था। उस केन्द्र में इस विचित्र संन्यासी की कहानी पहुँच चुकी थी और स्वामी जी भी जानते थे कि इस केन्द्र पर विजय प्राप्त किये बिना सत्यधर्म के प्रचार की उनकी मनोकामना पूरी नहीं हो सकती। कई दिन के ऊहापोह के बाद 16 नवम्बर, 1969 को मंगलवार के दिन सायंकाल 3 बजे शास्त्रार्थ का समय निश्चित हुआ। एक ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती अकेले थे, दूसरी ओर थे उस युग के प्रकाण्ड पण्डित सर्वश्री स्वामी विशुद्धानन्द, बालशास्त्री, माधवाचार्य और ताराचरण आदि थे। स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री की विद्वता की तो स्वयं स्वामी जी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। शास्त्रार्थ का विषय मूर्ति-पूजा था। वह शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में

1. द्र० स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० 2, विज्ञापन-1

उपलब्ध है और उस युग के पायोनियर और हिन्दू पैट्रिएट जैसे सभी प्रसिद्ध पत्रों में इसकी चर्चा हुई।

हुआ यह कि शास्त्रार्थ का अन्त होते-न-होते पं. माधवाचार्य ने वेद के दो पन्ने सामने रखकर कहा, "इसमें लिखा हुआ है कि यजमान यज्ञ की समाप्ति पर दसवें दिन पुराण का पाठ सुने। मैं पूछता हूँ यह पुराण शब्द यहाँ किसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ?"

स्वामी जी ने कहा, "आप इस अंश का पाठ कीजिये। तब देखेंगे कि वह विशेष्य है या विशेषण।"

विशुद्धानन्द जी बोले, "आप ही पाठ कीजिये।"

बार-बार आग्रह करने पर स्वामी दयानन्द ने उन पन्नों को उठाया और देखने लगे। वे देख ही रहे थे कि स्वामी विशुद्धानन्द खड़े हो गये और बोले, "हम और प्रतीक्षा नहीं कर सकते। हम जाते हैं।"

तब सभी खड़े हो गये और शोर करने लगे, "दयानन्द पराजित हो गये, दयानन्द पराजित हो गये।" कुछ लोगों ने कुछ और प्रकार से भी उपद्रव किया पर काशी नरेश के रहते वे कुछ अनर्थ न कर सके। स्वामी जी अकेले थे। उनका मन्तव्य प्रचलित जनमत के विरुद्ध था। काशी-नरेश की सहानुभूति अपने नगर के पण्डितों से होना स्वाभाविक था फिर भी निष्पक्ष पत्रिकाओं ने जो कुछ लिखा वह निस्संदेह विचारणीय है। 'पायोनियर' (15 जनवरी, 1880) में एक सज्जन ने लिखा :

> "मूर्तिपूजा वेदानुमोदित है या नहीं—यही प्रश्न काशी के शास्त्रार्थ का मूल प्रश्न था, किन्तु पण्डितगण उसका उत्तर न दे सके और दूसरी अप्रासंगिक बातों पर विचार करने लगे। ऐसा करके उन्होंने शास्त्रार्थ के कार्य को तमाशा बना दिया। ऐसी दशा में कोई कैसे कह सकता है कि स्वामी जी काशी के पण्डितों से पराजित हो गये।"

उनकी चर्चा करते हुए उसी समय एक और व्यक्ति ने 17 जनवरी, 1870 के 'पैट्रिएट' में लिखा :

> "अट्ठारह वर्ष वेदों पर विचार करने के पश्चात् दयानन्द इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि मूर्ति-पूजा किसी अंश में भी वेदानुकूल नहीं है। वह सांसारिक सुख का सर्व प्रकार से ही परिहार करके कठोरभाव से कालातिपात करते हैं और हिन्दू धर्म के संस्कार से स्वदेश का यथार्थ कल्याण साधन करने के अभिप्राय से आशान्वित हो रहे हैं। उन्होंने वेदप्रतिपादित विशुद्ध ब्रह्मवाद

को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से एक वेद-विद्यालय की स्थापना करने का भी संकल्प किया है।"

जय-पराजय सापेक्ष शब्द हैं। वर्तमान सन्दर्भ में हमारा उनसे विशेष सम्बन्ध नहीं है। हम तो इतना ही जानते हैं कि इस प्रसंग के बाद उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। पच्चीस वर्ष तक शोध करने के पश्चात श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने प्रमाण-पर-प्रमाण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने यहाँ तक लिखा है :

"बनारस शास्त्रार्थ के बाद स्वामी जी प्रयाग, मिर्ज़ापुर से होकर पुनः बनारस आये। इस बार काशी-नरेश ने उन्हें आग्रहपूर्वक अपने राजमहल में बुलाया और स्वर्ण सिंहासन पर आसीन करके शास्त्रार्थकालीन दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा-याचना की।[1]

इस शास्त्रार्थ के समय कलकत्ते के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन काशी में ही थे। वे स्वामी जी से बहुत प्रभावित हुए। उनसे काफ़ी विचार-विनिमय किया और कलकत्ता आने के लिए निमन्त्रित किया। यह निमन्त्रण कुम्भ के मेले के अवसर पर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी दे चुके थे। उन्होंने स्वामी जी की प्रखर प्रतिभा को तभी पहचान लिया था।

वह बनारस में उसके बाद भी तीन माह रहे। वह अब एक प्रखर सुधारक के रूप में पहचाने जाने लगे थे। उनकी निर्भीकता, विद्वत्ता, ज्ञान और उस पर भी सहज सौम्यता ने सबका मन मोह लिया था। उनकी विनोदप्रियता मात्र गुदगुदाती ही नहीं थी, मर्म को चीर भी देती थी। उत्तर प्रदेश और बिहार के अनेक स्थानों पर अपने विचारों का प्रचार करते हुए अन्ततः वे कलकत्ता पहुँचे। वहाँ उनके आगमन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। जहाँ तक वर्तमान पुस्तक का सम्बन्ध है कलकत्ता प्रवास उस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के प्रति वे इसी प्रवास में आकृष्ट हुए।

[9]

कलकत्ता उनके लिए क्या था और वे कलकत्ता के लिए क्या थे यह इस समाचार से स्पष्ट हो जाता है जो 30 दिसम्बर सन् 1872 के 'इण्डियन मिरर' में प्रकाशित हुआ था :

---

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, देवेन्द्रनाथ; भाग-1, द्वितीय संस्करण, पृ. 177

"मूर्ति-पूजा के महा बैरी पण्डित दयानन्द सरस्वती जिन्होंने थोड़े दिन पहले काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके भारत के उत्तरांचल में ख्याति प्राप्त की थी अब कलकत्ता में आकर राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के नगर के निकट नैनान उद्यान[1] में ठहरे हैं और जिज्ञासुओं तथा अन्यान्य व्यक्तियों के साथ धर्म विचार करने के अभिप्राय से उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बाङ्ला भाषा में विज्ञापन भी दिया है।"

बंगाल उनके स्वागत को क्यों उत्सुक था क्योंकि उनसे आधी शताब्दी पूर्व उसके एक सपूत राजा राममोहन राय ने उसी नव जागरण का शंख फूंका था जिसका सन्देश लेकर दयानन्द गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम रहे थे। स्वामी दयानन्द इस बात को जानते थे और वे राजा राममोहन राय के बड़े प्रशंसक थे। बावजूद कुछ मतभेदों के उन दोनों के विचार बहुत कुछ समान थे। अनेक भाषणों में उन्होंने उनकी चर्चा की है। इसके अतिरिक्त वहाँ महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन थे। विधवा विवाह के समर्थक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे और रामकृष्ण परमहंस थे। वे सबसे मिलने को आतुर थे।

कलकत्ता प्रवास में न केवल इनसे बल्कि पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न, पं. तारानाथ तर्क वाचस्पति, श्री राजनारायण वसु, श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, हेमचन्द्र चक्रवर्ती, अक्षय कुमार मित्र, डॉ. महेन्द्रलाल सरकार, प्रतापचन्द्र मजूमदार, रामानन्द भारती, मन्मथनाथ चौधरी, कृष्टोदास पाल, रजनीकान्त गुप्त, जयकृष्ण मुखोपाध्याय, राजा प्रसन्न कुमार ठाकुर, यतीन्द्र मोहन ठाकुर, द्वारकानाथ गांगुली, उमेशचन्द्र मिश्र, रामतनु लाहड़ी, डब्ल्यू. सी. बैनर्जी, एच. बी. एलेक्जेण्डर, भूदेव मुखोपाध्याय, राजेन्द्रलाल मित्र, रमेशचन्द्र मित्र, कविराज गंगाधर, रेव, लाल बिहारी दे, उमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय आदि विद्वान और सुशिक्षित व्यक्तियों से भी समागम हुआ। केशवबाबू तो प्रायः स्वामी जी के साथ देखे जाते थे। 12 जनवरी, 1873 के 'इण्डियन मिरर' के विवरण से पता लगता है कि 9 जनवरी, बृहस्पतिवार को दोपहर में स्वामी जी [illegible] कौतुकागार में गये थे। उसके पश्चात् बाबू केशवचन्द्र सेन के घर गये। उनके कौतुकागार में जाने का उद्देश्य वेद और उपनिषद् ग्रन्थों का क्रय करना था। केशव बाबू के घर में दयानन्द के साथ वार्तालाप करने के प्रयोजन से अनेक ब्राह्म बन्धु वहाँ आये थे। स्वामी जी ने उनके पूछे गये प्रश्नों के युक्तियुक्त उत्तर देकर उन्हें मुग्ध कर दिया।

कलकत्ता में जनता पर उनका क्या प्रभाव पड़ा इसका विवेचन श्रीयुत नगेन्द्र-

1. यह उद्यान प्रमोद कानन के नाम से भी जाना जाता था।

नाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'महात्मा दयानन्द सरस्वती की संक्षिप्त जीवनी' में, इस प्रकार किया है :

> "केशव बाबू के घर जिस दिन मैंने प्रथम दयानन्द की वक्तृता सुनी उस दिन एक नयी बात मैंने अनुभव की। मैं नहीं जानता था कि संस्कृत भाषा में ऐसी सरल और मधुर वक्तृता हो सकती है। वह ऐसी सहज संस्कृत बोलने लगे कि संस्कृत भाषा में जो व्यक्ति महामूर्ख हो वह भी अनायास ही उनकी बात समझ लेता था। और एक विषय में मुझे आश्चर्य हुआ। अंग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ हिन्दू संन्यासी के मुख से धर्म और समाज के विषय में ऐसे उदार विचार मैंने पहले कभी नहीं सुने थे।"

यही कारण था कि नव-जागृति के प्रतीक कलकत्ता ने उनके स्वागत में पलक-पाँवड़े बिछा दिये थे। उन्हीं दिनों स्वामी जी 43वें ब्राह्मोत्सव के अवसर पर निमंत्रित होकर पूज्यपाद महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के घर भी गये थे। उनके पुत्रों ने अत्यन्त श्रद्धाभाव से उनका आतिथ्य किया। द्विजेन्द्रनाथ और विशेषकर हेमेन्द्रनाथ के साथ 'स्वाधीन इच्छा' के विषय पर खूब बातें हुईं। दयानन्द ने स्वाधीन इच्छा के पक्ष में वैदिक प्रमाणों का उल्लेख कर उन्हें चकित कर दिया था। उनके घर के आँगन में जो मण्डप बना था उसके बीच में निर्मित वेदी और उसके चारों ओर लिखे संस्कृत के श्लोक पढ़कर वे बहुत आनन्दित हुए। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर में उनकी आस्था का प्रमाण इस बात से भी लगता है कि प्रमोद कानन के दालान में लगे उनके चित्र को देखकर उन्होंने कहा था, "इनको देखकर बोध होता है कि वह ऋषिभाव के स्वभावत: अनुरागी हैं।"

उनकी निर्भीकता, विद्वत्ता, उनकी सहज सरल संस्कृत भाषा, उनके भाषण करने की शक्ति, उनकी उदार और व्यापक दृष्टि, इन गुणों ने सभी के मन को मोह लिया था। उनके विरोधी आतंकित होकर कभी-कभी विचित्र बातें करने लगते थे जैसे किसी ने कहा, "यह निश्चय ही कोई जर्मन-देशवासी हैं। केवल हिन्दू धर्म को नष्ट करने के उद्देश्य से ही संन्यासी का रूप धारण करके आये हैं।"

उनके कलकत्ता-प्रवास में जो सबसे महत्त्वपूर्ण और विलक्षण बात हुई तथा जिसका हमारी इस पुस्तक से सीधा सम्बन्ध है वह यह थी कि इसके बाद स्वामी जी ने हिन्दी भाषा में लिखना और बोलना स्वीकार कर लिया। यह सब कैसे हुआ इसकी चर्चा हमने भूमिका में विस्तार से की है। वे 30 दिसम्बर, 1872 के दिन या एक-दो दिन पहले कलकत्ता आये थे और तीन माह से कुछ अधिक वे वहाँ रहे। अनुमान किया जा सकता है कि तीसरे महीने ही उन्हें केशव बाबू ने प्रचलित देशी भाषा अपनाने का सुझाव दिया होगा। अर्थात् मार्च, 1873 में किसी समय।

उसके बाद उनका हिन्दी में पहला भाषण मई, 1874 में काशी में हुआ। अर्थात् लगभग 12 माह में वे हिन्दी में ही शास्त्रीय भाषण देने में पारंगत हो गये थे।

हम यह नहीं मान सकते कि कलकत्ता आने से पूर्व वे हिन्दी से सर्वथा अपरिचित रहे होंगे। गुजरात छोड़ने के बाद उन्होंने प्राय: हिन्दी भाषी प्रदेशों की ही यात्रा की थी। निश्चय ही उन्होंने बोल चाल की कामचलाऊ हिन्दी के अनेक शब्द सीख लिए होंगे। हाँ, शास्त्रीय विषयों की व्याख्या करने के लिए जिस भाषा और शब्द-सम्पदा की आवश्यकता होती है उसका नियमित अध्ययन उन्होंने इन्हीं दिनों किया होगा।

जो भी हो, उन्हें हिन्दी भाषा का प्रबल प्रचारक और भाषा शिल्पी बनाने का श्रेय बंगाल को ही जाता है। हिन्दी गद्य के निर्माण में उनके सार्थक योगदान की चर्चा हम आगे यथास्थान करेंगे। लेकिन इस यात्रा के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इससे उनके प्रश्नाकुल मन को बहुत सन्तोष हुआ होगा। बहुत कुछ सामग्री मिली होगी उन्हें अपने विचार और प्रचार कार्य को सुस्थिर करने के लिए। और भाषा के साथ उनका बाहरी वेश भी तो बदल गया था। कोपीन के स्थान पर अब वे धोती-कुरता, दुपट्टा तथा पैरों में चमकते काले जूते पहनने लगे थे।

इस प्रकार तन और मन दोनों को एक नये प्रकाश से आवेष्ठित कर उन्होंने बंगाल से विदा ली। हुगली होकर वे बिहार चले गये।

[10]

साधारण जन क्या तब सोचते थे उनके बारे में। कोई कहता, "वे पहुँचे हुए योगी हैं।" कोई बोलता, "सरस्वती विराजमान है उनकी जिह्वा पर।" "शारीरिक, मानसिक, आकस्मिक बल की थाह नहीं उनकी"। तीसरा पुकारता, ' शब्दों को सही अर्थ दिये उन्होंने।" अज्ञान की धुन्ध जैसे छँटने लगी। दिन-भर शास्त्रार्थ करने पर रात्रि में वे बस एक प्रहर सोते। शेष समय ध्यान में बैठे रहते। सोचते रहते कैसे पाखण्ड का निराकरण हो, कैसे भारत का कल्याण हो।

फिर भी, पण्डितों में, ऐसे लोग भी थे जो उनका मुँह देखना पाप समझते थे। उनका व्यवसाय नष्ट हो रहा था न। वे बीच में परदा डालकर शास्त्रार्थ करते पर स्वामी जी आर्य धर्म की सारगर्भित और अद्भुत व्याख्या करके उन्हें चकित कर देते थे। ईर्ष्या से भरकर वे उनकी हत्या करने का प्रयत्न करते पर वे निसंग सारे देश में वैदिक पाठशालाएँ स्थापित करने की योजना पर विचार करते रहते।

उनकी यात्रा का अगला महत्त्वपूर्ण पड़ाव था बम्बई। कलकत्ता के बाद नाना स्थानों पर विचरण करते हुए वे अक्तूबर, 1874 के अन्त में यहाँ पहुँचे। यह

प्रबुद्ध व्यक्तियों की नगरी थी। प्रार्थना-समाजादि के कारण जनसमाज में भी जागृति आ चुकी थी। उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर उन्हें सुझाव दिया गया कि वे अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिए एक सभा की स्थापना करें। इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि जब वे अहमदाबाद होते हुए राजकोट पहुँचे थे तो वहाँ उन्होंने 'आर्य समाज' के नाम से एक संस्था स्थापित की थी। मगर सरकार ने उसे राजद्रोह फैलानेवाली संस्था माना और इस कारण वह पनप नहीं सकी।

गुजरात उनकी मातृभूमि थी। राजकोट उनकी जन्मभूमि के बहुत ही पास था फिर भी यहाँ उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया। लेकिन निश्चय ही यह प्रश्न उन्हें उद्वलित कर रहा था। क्योंकि अगले वर्ष 4 अगस्त, 1875 को उन्होंने पुणे में व्याख्यान देते हुए अपनी आत्मकथा की एक रूपरेखा प्रस्तुत की थी।

गुजरात वे प्रसिद्ध कवि और सुधारक नर्मद के आमन्त्रण पर आये थे। यहाँ की प्रबुद्ध जनता ने उनका दिल खोलकर स्वागत किया। प्रार्थना समाज के नेताओं ने तो अपनी वेदी उनको समर्पित कर दी थी। एक समय तो ऐसा आया जब स्वामीजी ने प्रस्ताव किया कि क्यों न प्रार्थना समाज का ही नाम आर्य समाज कर दिया जाए। सुप्रसिद्ध नेता रायबहादुर भोलानाथ साराभाई की जीवनी में लिखा है :

> "सन् 1874 के अन्त में आर्य समाज के संस्थापक प्रख्यात सुधारक दयानन्द सरस्वती प्रचार के निमित्त अहमदाबाद पधारे। प्रार्थना समाज ने आग्रह-पूर्वक अपनी वेदी इन महापुरुष के लिए छोड़ दी, जिन्होंने धार्मिक और सामाजिक विषयों पर कई व्याख्यान दिये। एक दिन उन्होंने भोलानाथ और महीपतराम रूपराम से प्रस्ताव किया कि प्रार्थना समाज का नाम बदलकर आर्य समाज रख दिया जाए। भोलानाथ ने अपनी अनुमति देने से पूर्व इस प्रश्न पर विचार करने का वचन दिया। उन्होंने वह सारी रात इसी प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने में बितायी लेकिन अन्त में स्वामी दयानन्द के प्रस्ताव को अस्वीकार करने का निश्चय किया।"[1]

वे 29 जनवरी, 1875 को फिर बम्बई लौटे। उस युग के प्रसिद्ध सुधारकों से उन्हें बहुत सहयोग मिला। यहाँ उन्होंने गिरगाँव रोड पर डॉ. माणिकजी की बागवाड़ी में आर्य समाज की स्थापना की। उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, बुधवार, सम्वत् 1931 तदनुसार अप्रैल की सातवीं तारीख थी। समय था सन्ध्या के चार बजे। अध्यक्ष थे श्री गिरिधर लाल दयालदास

---

1. दयानन्द चरित—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृ० 248

कोठारी। अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने उसकी सदस्यता ग्रहण की। उनमें श्याम जी कृष्ण वर्मा भी थे जो बाद में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी के रूप में प्रख्यात हुए। इसका पहला साप्ताहिक अधिवेशन हुआ तीन दिन बाद 10 अप्रैल को और इसके बाद आर्य समाज उनके जीवन और मिशन का प्रतीक बन गया।

इस आर्यसमाज के 28 नियम थे। उनमें पाँचवाँ नियम हमारी दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, "प्रधान समाज में वेदान्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेशों की पुस्तक होगी। और एक 'आर्य प्रकाश' पुस्तक होगी और एक 'आर्य प्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जाएँगे।"[1]

बंगाल के दो मनीषियों के सुझाव पर उन्होंने जिस लोक प्रचलित देशी भाषा को अपने प्रचार का माध्यम बनाया उसे उन्होंने 'आर्य भाषा' कहा है। क्यों कहा है इसका मूल कारण उनके पुणे में दिये गये आठवें प्रवचन में मिलता है। जिसमें उन्होंने कहा है :

"मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होने पर कुछ काल पश्चात् आर्य और दस्यु ये दो भेद हुए। विजानीर्ष्यान ये च दस्यवो (ऋ० 1/15/8) आदि सृष्टि में दो ही जातियाँ थीं आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् सुज्ञ विद्वान लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट।" (पृ० 67)

यह ठीक है या ग़लत इस पर विचार करना यहाँ असंगत है। लेकिन यह स्पष्ट है कि अनेक कारणों से उनकी यह स्थापना स्वीकार्य नहीं हो सकी। 'आर्य भाषा' के लिए 'हिन्दी' शब्द ही रूढ़ हो गया। रूढ़ हो जाने पर किसी शब्द के पुराने अर्थ असंगत हो रहते हैं।

जब सन् 1877 में उन्होंने लाहौर में, आर्यसमाज की स्थापना की तब उन्होंने एक उपनियम द्वारा सभी आर्य सभासदों के लिए आर्य भाषा का जानना आवश्यक बना दिया था :

"समस्त आर्य और आर्य सभासदों को संस्कृत वा आर्य भाषा जाननी चाहिए।" (उपनियम-संख्या 35)

बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना (अप्रैल 1875) उनके जीवन की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है लेकिन सम्भवतः लोगों ने इस बात की ओर ध्यान

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भा० 1, देवेन्द्रनाथ, पृ० 332

नहीं दिया कि ठीक इन्हीं दिनों एक और ऐसी घटना घटी जो न केवल उनके लिए बल्कि हिन्दी के प्रचार और प्रसार की दृष्टि से अद्भुत की संज्ञा ही पा सकती है। वह है 'सत्यार्थ प्रकाश' का प्रकाशन। आर्यसमाज की प्रस्थानत्रयी (सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार-विधि और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका) में वह सबसे ऊपर है। वह आर्य समाज की बाईबिल है और हिन्दी का प्रचार और प्रसार करने में परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से उसका योगदान अपूर्व है। उसके धार्मिक और सामाजिक सन्दर्भों से यहाँ हमारा कोई सरोकार नहीं है लेकिन हिन्दी गद्य के निर्माण में उसकी भाषा और शैली ने निश्चय ही रचनात्मक भूमिका निभाई है। इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी अपना समय व्याख्यान देने, और शास्त्रार्थ करने में ही नहीं व्यतीत करते थे बल्कि अपने विचारों और भावों को शब्द भी दे रहे थे पर अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण वे बोल कर लिखाते थे।

सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण का प्रकाशन मार्च या अप्रैल 1875 में हुआ। इसको लिखने की प्रेरणा तात्कालिक मुरादाबाद निवासी राजा जयकृष्णदास सी. एस. आई. से उन्हें मिली थी। उन्होंने सुझाया ही नहीं बल्कि लिखने के लिए एक महाराष्ट्री पण्डित श्री चन्द्रशेखर को नियुक्त भी कर दिया। इसका लेखन 12 जून, 1874 को शुरू हुआ और सितम्बर, 1974 के अंत तक चलता रहा।

अनेक कारणों से स्वामीजी ने इस संस्करण को प्रामाणिक नहीं माना है। दूसरे संस्करण को ही उन्होंने मान्यता दी है। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक 'आदिम सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है :

> "यह ग्रंथ ऋषि दयानन्द का लिखवाया हुआ है, लिखा हुआ नहीं है और लिखवाया भी क्रम से नहीं प्रत्युत व्याख्यानों की रीति से है। हमारी तरह जिन सज्जनों ने आचार्य दयानन्द के धर्मोपदेश सुने हैं वे साक्षी देंगे कि संशोधित दूसरा सत्यार्थ प्रकाश पढ़कर जहाँ उन्हें एक दार्शनिक आचार्य की रचना का भान होता है वहाँ आदिम सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे वर्तमान समय के सबसे बड़े मूर्तिभंजक का सिंहनाद सुन रहे हैं।"

महाराष्ट्र में उस समय सुधार आन्दोलन का सबसे बड़ा और सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र पुणे था। न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे स्वामी जी के प्रति आकर्षित हो चुके थे। उन्होंने और गोपालहरि देशमुख तथा महादेव मोरेश्वर कुण्टे आदि मनीषियों ने उन्हें पुणे आने का निमंत्रण दिया। महात्मा ज्योतिबा फूले जैसे प्रचंड सुधारक भी उनकी शोभा-यात्रा में सम्मिलित हुए थे।

स्वामीजी 20 जून, 1875 मंगलवार को पुणे पधारे। उन्होंने वहाँ नाना स्थानों पर लगभग पचास व्याख्यान दिये। उनमें वे पन्द्रह व्याख्यान बहुत प्रसिद्ध हुए जो 'भिड़े के बाड़े' में स्थित दीवानखाने में हुए थे। यह तार्वडी जोगेश्वरी मंदिर के पास है। इस व्याख्यान माला का आरम्भ 4 जुलाई, 1875 को हुआ था। अंतिम भाषण हुआ 4 अगस्त 1975 को। ये भाषण सरल हिन्दी में हुए थे पर इन्हें लिपिबद्ध किया गया मराठी में। बाद में ये न्यायाधीश रानाडे द्वारा सम्पादित होकर पत्रों में छपे।[1]

इन भाषणों का अनुवाद हिन्दी, गुजराती और उर्दू आदि भाषाओं मे भी हुआ लेकिन यह अनुवाद का अनुवाद था। काश, किसी ने हिन्दी में दिये मूल भाषणो को लिपिवद्ध किया होता। इनके उर्दू अनुवादक स्वामी श्रद्धानन्द ने इनके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए बहुत सही लिखा है :

> इन व्याख्यानों में कई नवीनतम विषय ऐसे हैं जो सत्यार्थ प्रकाश के कई रहस्यपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालते हैं और आर्यसमाज के कई सिद्धान्तों को सरल बना देते हैं। मेरे विचार में ये व्याख्यान आर्य नर-नारियों को संजीवनी बूटी का काम देंगे। यदि प्रत्येक व्याख्यान का इन पन्द्रह व्याख्यानों की तरह खुलासा हमारे लिए सुरक्षित रहा तो कई शंकाएँ, जो प्रायः आर्य भाइयों को सिद्धान्तों के समझने में पैदा होती है, वे न होती।"[2]

स्वामीजी पर संकीर्णता और दुराग्रह के जो आरोप लगाये गये हैं उनका निराकरण भी इन व्याख्यानों से होता है: मताग्रह के सम्बन्ध में वे कितनी तथ्यपूर्ण बात कहते हैं :

> "मनुष्य को स्वमत के विषय में सहज ही दुराग्रह उत्पन्न होता है यह मनुष्य का स्वभाव है परन्तु सुज्ञ पुरुषों को उचित है कि दुराग्रह को परे फेंक सत्य की परीक्षा करें। यही उनका भूषण है।[3]

---

1. श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार यह अनुवाद पुणे हाई स्कूल के तत्कालीन सहायक मुख्याध्यापक रा. रा. गणेश जनार्दन आगाशे बी. ए. ने किया था। उन्होंने स्वयं मराठी संस्करण की प्रति मुखोपाध्याय को दी थी— पुणे प्रवचन, सं० भवानीलाल भारतीय।
2. वही
3. वही

एक और स्थान पर इस बात को वे और भी स्पष्ट करते हैं :

"हम सर्वज्ञ नहीं और सब बातें हममें उपस्थित भी नहीं। हमारे बोलने में अनन्त दोष होते होंगे। इस विषय में हमें अभिमान नही है। दोष बतलाने पर हम स्वीकार करेंगे। सत्य की छानबीन होनी चाहिए यही हमारी बुद्धि में आता है।"

मात्र हिन्दी के प्रति भी उनका आग्रह नहीं था। इन्हीं व्याख्यानों का विश्लेषण करते हुए डॉ. भवानीलाल भारतीय लिखते हैं :

"विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुभाषाविद् थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाएँ बोल सकते थे। साम्प्रातिक काल के संस्कृतज्ञों की यह धारणा कि यावनी और म्लेच्छ भाषाओं को पढ़ना दोषावह है, स्वामीजी नही मानते थे। उन्होने 'न वदेदयावनी भाषा' इस पुराण वाक्य का सर्वत्र उपहास किया है।[1]

पुणे से सतारा, बम्बई, इन्दौर और बड़ौदा होते हुए वे अंत में मई, 1876 में एक बार फिर काशी पहुँचे। उनके मन में एक नया संकल्प जन्म ले रहा था। वे वेदों का भाष्य करना चाहते थे। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उन्होंने अपने मंतव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

"मैं प्राचीन आर्य नीति का अवलम्बन करके ही इस वेद भाष्य की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह भाष्य ऐतरेय और शतपथादि व्याख्या ग्रंथों के अनुकूल होगा। इसमें कोई अप्रामाणिक बात नहीं होगी···किन्तु ब्रह्मा से व्यासदेव पर्यन्त महर्षिगण ने जिस भाव और जिस प्रणाली में वेदार्थ निर्धारित किया है मैं इस भाष्य में केवल उसी भाव और प्रणाली का अनुसरण करता हूँ।"[2]

इस वेदभाष्य का आरम्भ अयोध्यानगरी के सरयू बाग़ में सम्वत् 1933 (सन् 1876) भाद्रमास शुक्ल पक्ष को, प्रतिपदा, रविवार के दिन आरम्भ हुआ और यह हिन्दी भाषा में ही हुआ।

---

1. वही
2. दयानन्द चरित, देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, पृ० 277

[11]

स्वामीजी के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक है उनका सन् 1877 के दिल्ली दरबार में आना। वे 17 दिसम्बर, 1876 रविवार के के दिन छलेसर से वहाँ पधारे थे। यह दरबार भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लिटन ने 1 जनवरी, 1877 को महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की साम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य में आयोजित किया था। इसमें देश के सभी वर्गों के गणमान्य व्यक्ति आमंत्रित किये गये थे। ब्रिटिश हुकूमत के वैभव और शक्ति का प्रदर्शन ही इसका मुख्य उद्देश्य था। स्वामीजी इस विशाल जनसमूह और प्रमुख व्यक्तियों की उपस्थिति का लाभ उठाकर देशोद्धार की अपनी योजना उनके सामने रखना चाहते थे। और विशेषकर राजाओं से मिलने की उनकी बड़ी इच्छा थी। लेकिन अनेक कारणों से यह सम्भव नहीं हो सका। हो भी नहीं सकता था क्योंकि यदि राजा-महाराजा स्वामीजी की सामाजिक सुधार की योजना को स्वीकार कर लेते तो राजदरबारों के द्वारा अपनी जीविका चलानेवाले पोंगापंथियों का प्रभुत्व समाप्त हो जाता। कश्मीर के महाराजा रणवीरसिंह चाहकर भी स्वामीजी से नहीं मिल सके। इसका एक और भी कारण था और वह अधिक महत्त्वपूर्ण था। गोरे शासकों तक अब यह बात पहुँच चुकी थी कि स्वामी जी द्वारा प्रचारित सामाजिक क्रांति से भारत की सोई हुई जनता जाग उठी है। यह सामाजिक क्रांति किसी भी दिन राजनैतिक क्रान्ति का रूप ले सकती है। सन् 1857 के विप्लव का प्रभाव लाख प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं हो रहा है। इसलिए बहुत संभव है उन्होंने अपरोक्ष रूप से राजाओं को स्वामी जी से मिलने से रोका हो।

स्वामीजी राजाओं से भेंट न कर सके पर उनके मन में एक प्रश्न निरन्तर घुमड़ता रहा कि हम सब एक कैसे हो सकते हैं? कैसे देश में फैले घोर अंधविश्वास और पाखण्ड का सामना किया जा सकता है। वे जानते थे कि इस दरबार में देश-भर के मनीषी और सुधारक आये हैं। उन्होंने उन सभी को एक दिन अपने डेरे पर आमंत्रित किया।

इस सर्वधर्म सम्मेलन का ऐतिहासिक महत्व है। सम्भवत: सम्राट अकबर के बाद स्वामीजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने धार्मिक और सामाजिक एकता के लिए रचनात्मक क़दम उठाया था। उनके निमंत्रण पर भारतीय मनीषा के जो उज्ज्वल रत्न उस सम्मेलन में भाग लेने आये थे, उनमें प्रमुख थे—ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन, बाबू नवीनचन्द्र राय, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, मुंशी इन्द्रमणि, हरिश्चन्द्र चिन्तामणि और मुस्लिम जन जागरण के अग्रदूत सैयद अहमद।

स्वामीजी ने उन सबके सामने देश की दुर्दशा का मार्मिक विश्लेषण करते

हुए यह प्रस्ताव रखा कि यदि हम सब लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा है देश में शीघ्र सुधार हो सकता है। आप सब वेदों को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार कर लें और आर्य-संस्कृति के मौलिक तत्त्वों को आधार बनाकर देश और समाज के पुनर्निर्माण का प्रयत्न करें तो निश्चय ही सफल हो सकते हैं।

लेकिन उनका प्रस्ताव स्वीकृत नही हो सका। हो ही नहीं सकता था क्योंकि सम्मेलन में वर्तमान नेताओं के विचारों में सद्भावना के बावजूद बहुत मतभेद था। विशेषकर वेदों को लेकर। इस सम्मेलन का विवरण 'इंडियन मिरर' कलकत्ता के 14 जनवरी, 1877 के रविवासरीय संस्करण में तथा लाहौर के 'बिरादरे हिन्द', (जनवरी, 1877) में छपा था। इसकी असफलता का मुख्य कारण क्या था इसकी चर्चा करते हुए आठ वर्ष बाद जनवरी, 1885 में बाबू नवीनचन्द्र राय ने (ज्ञान प्रदायिनी) पत्रिका में लिखा था :

> "फिर दूसरी ओर स्वामीजी की मुलाक़ात हम लोगों से दिल्ली में सन् 1877 में 'क़ैसरे हिन्द' के दरबार के समय हुई। वहाँ उन्होंने हमें, बाबू केशवचन्द्र सेन, दक्षिणवासी श. व. गोपाल राव हरि देशमुख और श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को निमंत्रित किया और हम लोगों से यह प्रस्ताव किया कि हम लोग पृथक्-पृथक् रीति से धर्मोपदेश न करके एकता के साथ करें तो अधिक फल होगा। इस विषय में बहुत बातचीत हुई पर मूल विश्वास में हम लोगों का उनके साथ भेद था, इसलिए जैसा वे चाहते थे एकता न हो सकी।"

मूल विश्वास में यह कैसा भेद था इसकी चर्चा श्री प्रेमसुन्दर बसु ने बाबू केशवचन्द्र सेन की जीवनी में की है :

> "बाबू केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्ली में स्वामी दयानन्द से मिले तो उन्होंने कहा कि वे बहुत-सी बातों में उनसे सहमत हैं, लेकिन एक बात उनकी समझ में नहीं आती कि बिना वेद का सहारा लिए धार्मिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है।"[1]

---

1. Life of Keshav Chandra Sen. Page 328

यह एकता न हो सकी परन्तु स्वामीजी के मन में यह प्रश्न बराबर कौंधता रहा कि कैसे हो सकती है यह एकता ? कैसे हो सकते है हम सब एक ? तीन वर्ष बाद वे आगरा पहुँचे। वहाँ सेंट पीटर्स चर्च के बिशप ने उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी 12 दिसम्बर, 1880 को उनसे मिलने गये। बहुत देर तक उनमें बातें होती रहीं। स्वामी जी ने कहा कि यदि हम और आप तथा अन्य धर्मों के बुद्धिमान नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते है तो एकता स्थापित हो सकती है और फिर मुक़ाबले पर नास्तिक ही रह जायेंगे। बिशप ने कहा, यह दुष्कर है। मुसलमान और ईसाई मांस खाना कभी न छोड़ेंगे।[1]

[12]

लेकिन अभी हम थोड़ा पीछे लौटें। दिल्ली से मेरठ आदि स्थानों पर होते हुए वे चाँदपुर के धार्मिक मेले में पहुँचे। यहाँ पर मेला प्रारम्भ होने के दिन (19 मार्च, 1877) प्रातःकाल ही कुछ लोग स्वामी के पास आये और उनके सामने एक प्रस्ताव रखा कि हिन्दू और मुसलमान धर्माचार्यों को मिलकर ईसाई पादरियों को पराजित करना चाहिए। स्वामी जी ने इसका विरोध किया और कहा कि हमारे यहाँ आने का प्रयोजन सत्यान्वेषण है न कि किसी धर्म या मत को पराजित करने का भाव। उन्होंने बल देकर कहा कि हमें स्वमत के आग्रह को छोड़कर सत्य जिज्ञासा के भाव से ही विचार मे प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

इस मेले में निर्धारित विषयों पर ठीक प्रकार से विचार नही हो सका। यहाँ से वे शाहजहाँपुर और सहारनपुर होते हुए लुधियाना चले गये। पाँच नदियों का यह प्रदेश बहुत दिनों से उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। हरिद्वार, काशी, कलकत्ता और बम्बई के बाद लाहौर उनकी सत्य की खोज की यात्रा का एक और दिशा-सूचक केन्द्र है। विशेषकर दो बातों के लिए यह प्रवास चिरस्मरणीय बन गया है। एक तो यह है कि 14 जून, 1877 को लाहौर में जब आर्य समाज की स्थापना हुई तब बम्बई आर्य समाज के 28 नियम, 10 नियमों में सीमित हो गये। दूसरी बात यह है कि अपने वेदभाष्य के लिए उन्होंने सरकार से प्रार्थना की।

लुधियाना में स्वामी जी मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी के साथ रहे। वहाँ से 19 अप्रैल, 1877 को लाहौर पहुँचे। दिल्ली दरबार के समय उन्हें वहाँ आने का निमंत्रण मिल चुका था। उन्हें निमंत्रित करनेवालों में अधिकतर व्यक्ति ब्रह्म समाज से जुड़े थे। वे यहाँ दीवान रतनचन्द दाढ़ीवाले के बाग़ में ठहरे। उनके

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, भाग-2, पं. घासीराम, पृ० 626
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृ० 284

व्याख्यानों ने नगर में उत्सुकता और बेचैनी पैदा कर दी। लेकिन सनातन धर्म के अनुयायी क्रुद्ध हो उठे इतने कि उन्होंने दीवान साहब के बेटे से स्वामी जी को बाग़ से निकाल देने का आग्रह किया।

और अन्ततः स्वामी जी को वह बाग छोड़ना पड़ा। इस बार उनके भक्तों ने उनके रहने की व्यवस्था डॉ. रहीम खाँ की कोठी में की। उनके भक्तों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। उपरोक्त महानुभावों के अतिरिक्त सरदार विक्रमसिंह अहलूवालियह, भक्त लक्ष्मण सिंह, खानबहादुर रहीम खाँ, मियाँ जान मोहम्मद, लाला मूलराज, लाला साहूदास, लाला श्रीराम, लाला जीवानन्द, श्री शारदा-प्रसाद भट्टाचार्य, डॉ. खजानचन्द और डॉ. सदानन्द आदि उनके प्रशंसक बन गये थे। और जब आर्य समाज की स्थापना हुई तो इन्हीं में से अधिकांश व्यक्ति उसके पहले सदस्य बने।

लाहौर आर्य समाज की स्थापना दो और तथ्यों को उजागर करती है। एक यह कि उसकी स्थापना किसी हिन्दू के घर पर नहीं बल्कि एक मुसलमान सज्जन (डॉ. रहीम खाँ) की कोठी पर हुई। दूसरा यह कि उस समय जिस उपासना पद्धति का प्रयोग किया गया वह ब्रह्मसमाज की थी। तब तक आर्य समाज की अपनी कोई पद्धति विकसित नहीं हुई थी। पहले अधिवेशन में स्वामी जी के अति-रिक्त बाबू शारदाप्रसाद भट्टाचार्य का भी प्रवचन हुआ था। ये साधारण बातें हो सकती हैं पर इनके अर्थ बहुत गहरे हैं। स्वामी जी जितने उदार और लोकप्रिय थे, डॉ. रहीम खां की उदारता भी उतनी ही प्रशंसनीय है। 1 जुलाई, 1877 के 'बिरादरे हिन्द' ने लिखा था :

> "यद्यपि उन्होंने संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का साहित्य नहीं पढ़ा है तथापि उन्होंने अपने विचारों को इतना परिमार्जित और विकसित कर लिया है कि वे अंग्रेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों के विचारों से भी उत्तम विचार रखते हैं। वे केवल धार्मिक सुधार पर ही नहीं वरन् बाल-विवाह आदि सब बुराइयों के सुधार पर भी उनकी दृष्टि है। स्त्रियों की स्वतंत्रता और शिक्षा के वे विशेष इच्छुक हैं। अविद्या, हठ, दुराग्रह को दूर करना, विद्या का प्रचार करना, जाति में एकता उत्पन्न करना—इनका अंतिम ध्येय है।"

आर्य समाज के दस नियमों में एक नियम यह भी है कि "सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" सबकी उन्नति की दृष्टि से ही उन्होने वेदो को विद्वानों की पंचायत से निकाल कर जनता के बीच प्रतिष्ठित करना चाहा था। यह तभी हो सकता था जब उसका संस्कृत के साथ लोक प्रचलित भाषा अर्थात्

हिन्दी में प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध हो। यही वे कर रहे थे। और द्रुत गति से कर रहे थे। करते-करते उनको ऐसा लगा कि यदि पंजाब सरकार इस काम में कुछ आर्थिक सहायता कर सके तो यह साहित्यिक अनुष्ठान बिना किसी विशेष बाधा के सम्पन्न हो सकेगा। इसके लिए 14 मई, 1877 को गवर्नर से मिले। अपने वेदभाष्य के दो अंक उन्हें भेजे। लेकिन अन्ततः उनकी प्रार्थना अस्वीकृत हो गयी। इस अस्वीकृति का मुख्य कारण था कि जिन विद्वानों के पास उनका भाष्य सम्मति के लिए भेजा गया उन्होंने उसे प्रामाणिक नहीं माना। स्वामी जी के जीवनीकार भवानीलाल भारतीय के शब्दों में :

"(इन) विद्वानों ने स्वामी जी के भाष्य के प्रति अपनी विपरीत सम्मति व्यक्त करते हुए यह आरोप लगाया कि यह भाष्य न तो वेद के अन्य प्राचीन भाष्यों का अनुसरण करता है और न इसके मंत्रों के वस्तुपरक अर्थ ही किये गये हैं। इन समीक्षकों का यह भी कहना था कि स्वामी जी ने अनेक मंत्रों के अभिप्राय सिद्ध करनेवाले कपोल-कल्पित अर्थ किये हैं···"

जब स्वामी जी को इन आपत्तियों का ज्ञान हुआ तो उन्होने विस्तृत समीक्षा करते हुए स्वरचित वेदभाष्य के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया परन्तु सरकार का निश्चय अडिग रहा।[1] प्रतिकूल सम्मति देने वाले विद्वानों में सर्वश्री ग्रिफ़िथ और टानी जैसे विदेशी विद्वान भी थे। परन्तु इसके विपरीत श्री अरविन्द ने लिखा था :

"वेदों के भाष्य के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्त में चाहे जो भाष्य प्रमाणित माना जाए लेकिन स्वामी दयानन्द की प्रतिष्ठा सबसे बढ़कर की जाएगी। क्योंकि उन्होंने सत्य के अर्थों को खोज निकाला अर्थात धातु का अर्थ यौगिक शब्दों में निकालना उन्हीं का काम था।"

परन्तु स्वामी जी का कार्य सरकारी सहायता के अभाव में रुका नही क्योंकि इसके प्रकाशन से पूर्व ही एक हज़ार से अधिक व्यक्ति अग्रिम शुल्क भेजकर ग्राहक बन चुके थे।

सोलह महीने तक वे पंजाब में घूम-घूम कर तमस के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। अमृतसर, गुरुदासपुर-जालन्धर, फ़ीरोजपुर, रावलपिंडी, जेहलम, गुजरात, वजीराबाद, गुजरावाला, मुलतान आदि स्थानों पर उनके व्याख्यानों की धूम मच गयी।

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ 296

सबसे अधिक सफलता उन्हें इसी प्रान्त में मिली। उसके कई कारण थे। इस प्रान्त में हिन्दू, सिक्खों और मुसलमानों के साथ रह रहे थे। वे एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे। दूसरे प्रान्तों के हिन्दुओं की तुलना में उनमें अंधविश्वास बहुत कम थे। स्वामी जी राष्ट्रीयता के पोषक थे। गुरुडम में उनका विश्वास नहीं था। अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति उनकी अपार आस्था थी। पंजाब के हिन्दू उनकी अमृत-वाणी सुनकर, जैसे जी उठे।

इस प्रवास में अमृतसर में रहते हुए स्वामी जी ने 'आर्योदेश रत्नमाला'[1] की रचना की। इसमें वैदिक सिद्धान्तों की सरल परिभाषाएँ दी गयी हैं। व्याख्यानों और शास्त्रार्थों के बीच वे साहित्य-रचना करना नहीं भूलते थे।

[13]

पंजाब से लौटकर वे लगभग तीन वर्ष तक गंगा-जमुना के कांठे में विचरण करते रहे। वे 25 जुलाई, 1878 को रुड़की पहुँचे थे। अब तक उनकी यशोगाथा समुद्र पार के देशों में भी पहुंच गयी थी। यूँ तो सन् 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना के बाद ही यूरोप के विद्वान भारत के नवजागरण के प्रति सचेत हो उठे थे परन्तु स्वामी दयानन्द के प्रति उनका रुझान एक और कारण से हुआ। ब्रह्मसमाज पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित था, लेकिन स्वामी जी का चिन्तन विशुद्ध भारतीय था। इसीलिए थियोसॉफ़िकल सोसाइटी के संस्थापकों का ध्यान उनकी ओर गया और कर्नल एच. एस. आल्काट ने 18 फ़रवरी, 1878 को एक पत्र न्यूयार्क से स्वामी जी को लिखा। यही पत्र आधार बन गया उनके घनिष्ठ सम्बन्धों का जो मतभेद के कारण भी बराबर बने रहे। स्वामी जी विदेशियों से अच्छी बातें सीखने के विरोधी नहीं थे। वे तो यही कहते थे—भाई ! किसी विद्या के ग्रहण करने के लिए जाओ परन्तु अपनी अच्छी-अच्छी प्रथाओं को मत छोड़ो।[2]

इसी प्रवास में वे एक बार फिर कुम्भ के महान् पर्व के अवसर पर हरिद्वार पधारे। यहाँ पर एक निर्मला साधु ने उनसे पूछा था, "क्या सभी लोगों के एक ही विचारधारा में दीक्षित होकर एक ही पंथ का अनुगामी बनना सम्भव है ?"

स्वामी जी का उत्तर था, "पुरुषार्थ से सब कुछ सम्भव है। यदि हम सामाजिक एकता के लिए बद्धपरिकर हो जाएँ तो साम्प्रदायिक भिन्नता को समाप्त करना कुछ भी कठिन नहीं है।"[3]

1. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती, पृ० 348
2. वही
3. वही

स्वामी जी अपने विरोधियों की प्रतिभा का भी सम्मान करना जानते थे। कुम्भ के अवसर पर आये हज़ारों साधुओं में से उन्होंने स्वामी जीवनगिरि, स्वामी सुखदेवगिरि तथा स्वामी विशुद्धानन्द की विद्वत्ता को पहचान कर कहा था कि यदि ये तीनों संन्यासी मिलकर लोकोपकार, देशोत्थान तथा मानव-जाति के सर्वविध हितसाधन में उनका हाथ बँटावें तो यह महत्त्वपूर्ण कार्य शीघ्र ही पूरा किया जा सकता है।[1]

लेकिन भारत को एक रूप देखने की उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। इस एकता के प्रति उनकी ममता इतनी गहरी थी कि उन्होंने अपने ग्रन्थों का दूसरी भाषाओं में अनुवाद करवाने का प्रस्ताव इसीलिए अस्वीकार कर दिया था कि वे तो उस दिन को देखना चाहते है जबकि आर्यभाषा हिन्दी ही भारत की सर्वमान्य भाषा होगी और इसी राष्ट्रभाषा के माध्यम से देश के लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान करेंगे।[2]

यहाँ से देहरादून होते हुए स्वामी जी सहारनपुर आये। यहाँ थियोसोफ़िकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल एच. एस. आल्काट और मैडम एच. पी. ब्लैवेट्स्की से उनकी भेंट हुई। उनको लेकर वे मेरठ पहुँचे। अभी तक दोनों एक-दूसरे के प्रशंसक थे। भारत आने से पूर्व 18 फ़रवरी, 1878 को कर्नल आल्काट ने जो पत्र लिखा था, वह स्वामी जी के प्रति उनके मनोभावों का साक्षी है :

> "हमको नास्तिक म्लेच्छ और ख्रिष्ट्रीय धर्म विरोधी कहा गया है। हमें न केवल नवयुवक और उत्साही पुरुषों की ही सहायता की आवश्यकता है किन्तु उन लोगों की भी जो सुधी और पूजनीय हैं। इस कारण हम आपके चरणों में उसी भाव से आते हैं जिस भाव से कि पुत्र पिता के चरणों में जाते हैं और कहते हैं कि हे गुरो ! हमारी ओर देखिये और हमको बतलाइये कि हमें क्या करना चाहिए। हमको अपनी शिक्षा और सहायता दीजिये। देखिये हम आपके समीप गर्व के साथ नहीं किन्तु नम्रता के साथ आते हैं और हम आपकी शिक्षा मानने के लिए और अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए जैसाकि हमको बताया जावे हम उद्यत हैं।"

इसी प्रवास में जब स्वामी जी बरेली पहुँचे तो नगर कोतवाल मुंशी नानकचन्द के पुत्र मुंशीराम ने, जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए उनका पहला भाषण सुना :

---

1. नवजागरण के पुरोधा : स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० 353
2. वही, पृ० 355

"मुंशीराम इस समय नास्तिकता की ओर झुक रहा था पर वह भाषण सुनकर चकित हो उठा, "यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है कि विद्वान दंग हो जाएँ।"

मुंशीराम ने स्वामी जी से कई बार बातें कीं। तर्क भी किया लेकिन उनका मन शान्त नहीं हो पा रहा था। उन्होंने कहा, 'महाराज आपकी तर्कना-शक्ति बड़ी तीक्ष्ण है। आपने मुझे चुप करा दिया परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।"

स्वामी जी हँसे। फिर गम्भीर स्वर में बोले :

"तुमने प्रश्न किये मैंने उत्तर दिये यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा।···यह तो तभी होगा जब परम कारुणिक प्रभु ही तुम पर कृपा करेंगे।"

उनकी विनम्रता का एक और उदाहरण देना अनुचित न होगा। जब उनके भक्त उनकी गणना प्राचीन काल के ऋषियों की परम्परा में करने लगे तब उन्होंने कहा था :

"भाई! पुराकालीन ऋषियों के अभाव में तुम मुझे कुछ भी कह लो किन्तु यदि सांख्य एवं वैशेषिक दर्शनों के प्रवक्ता महर्षि कपिल और कणाद के युग में मैं होता तो मेरी गणना साधारण विद्वान के रूप में भी कथंचित ही हो पाती।"

इसी अवधि में स्वामी जी ने 12 फ़रवरी, 1880 को वैदिक मंत्रालय की विधिवत स्थापना की। इन सांस्कृतिक झंझटों में पड़ने से उन्हें बहुत ग्लानि हुई पर वेदभाष्य का धारावाहिक प्रकाशन सुचारु रूप से होता रहे उसके लिए यह आवश्यक था। बम्बई बहुत दूर था। अब तक वह वहीं छप रहा था। दूरी के कारण बीच-बीच में व्यवधान पड़ता था।

काशी प्रवास में उनकी भेंट हिन्दी के दो प्रसिद्ध मनीषियों से भी हुई। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' उनके प्रबल विरोधी थे। जहाँ तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का संबंध है वे पहले तो उनके विरोधी रहे। स्वामीजी ने जब प्रथम बार सन् 1869 में काशी के पण्डितों से शास्त्रार्थ किया था तब वे उसमें उपस्थित थे। उस समय उन्होंने 'दूषण मालिका' पुस्तक लिखकर स्वामी जी की बड़ी निन्दा की थी पर दस वर्ष बाद अब उन्होंने स्वामी जी को एक सच्चा देशभक्त, प्रखर समाज-

सुधारक और हिन्दी भाषा के प्रबल पक्षपाती के रूप में देखा तो उनकी राय बदल गयी। वे स्वामी जी से मिलने आये। खंडन-मंडन को लेकर बातें भी की। स्वामी जी ने उन्हें बताया कि वे जो खंडन पद्धति चला रहे है उससे जाति को अपनी दुर्बलताओं को दूर करने में सहायता मिलेगी। यह खंडन रचनात्मक प्रयोजन के लिए है न कि जाति की एकता को विच्छिन्न एवं खंडित करने के लिए।

स्वामी जी के विचारों का प्रभाव भारतेन्दु के साहित्य पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भारतेन्दु ने अपने 'भारत दुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' तथा 'प्रेम योगिनी' नाटकों में रूढ़िमूलक धर्म तथा पाखंड की तीव्र निन्दा करते हुए सुधारवाद का समर्थन किया है। 'स्वर्ग में विचार सभा अधिवेशन' कृति में उन्होंने स्वामी जी के बहुत से विचारों का मुक्त कंठ से समर्थन किया है।

भारतेन्दु का सुप्रसिद्ध नाटक 'अन्धेर नगरी चौपट राजा— टके सेर भाजी टके सेर खाजा' जिस लोक कथा पर आधारित है उसका प्रयोग स्वामी जी पहले ही कर चुके थे। अपने एक व्याख्यान में उसे उन्होंने दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया था।[1] वहाँ उसका नाम है 'अन्धेर नगरी गबरगण्ड राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।'

काशी से लखनऊ, फ़र्रुखाबाद, मैनपुरी होते हुए 8 जुलाई, 1880 को छठी बार मेरठ आये। यहाँ आर्यसमाज के तत्त्वावधान में एक कन्या पाठशाला चल रही थी। उसी के लिए एक विदुषी अध्यापिका की आवश्यकता थी। स्वामी जी ने पण्डिता रमाबाई के बारे में सुना था। वे तब कलकत्ता में थीं। वे कर्नाटक प्रदेश की थीं। उनके माता-पिता दोनों संस्कृतज्ञ थे। उन्होंने बेटी को भी संस्कृत की शिक्षा दी थी। माता-पिता की मृत्यु जल्दी ही हो गयी इसलिए वे भाई के पास कलकत्ता आ गयीं। लेकिन भाई भी शीघ्र ही परलोकवासी हो गये। इसी समय उनका स्वामी जी से पत्र-व्यवहार हुआ और वे मेरठ आ गयीं। लेकिन एक-दूसरे के प्रति अतिशय आदर का भाव होते हुए भी रमाबाई मेरठ नहीं रह सकीं। वे वास्तव में कायस्थ जाति के एक युवक से विवाह करना चाहती थीं और स्वामी जी चाहते थे कि वे भारत की पद-दलित नारी जाति में शिक्षा और सुसंस्कार तथा धर्म-प्रचार करने का व्रत ले। लेकिन जब उन्हें रमाबाई की इच्छा का पता लगा तो उन्होंने उन्हें सम्मानपूर्वक विदा किया। उस विदाई समारोह में स्वामी जी की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए रमाबाई ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि देश में यत्र-तत्र घूमकर धर्म-प्रचार करना उसके लिए सम्भव नहीं।

उन्होंने शादी कर ली लेकिन विधि की विडम्बना, वे शीघ्र ही विधवा हो

1. तीसरे खंड में यह कहानी दी गयी है।

गयीं। गोद में दो वर्ष की बालिका थी। सन् 1883 में वे इंग्लैंड चली गयीं और ईसाई मत ग्रहण कर लिया। कालान्तर में पुणे आकर उन्होंने शारदा-सदन के नाम से एक विधवाश्रम स्थापित किया। सामाजिक अत्याचार से पीड़ित न जाने कितनी नारियों को उन्होंने संरक्षण दिया। अनेकों ने उन्हीं की तरह ईसाई मत को स्वीकार कर लिया। *लेकिन स्वामीजी के प्रति उनके विचार नहीं बदले।* 13 नवम्बर, 1903 के पत्र में उन्होंने स्वामी जी के जीवनीकार देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखा था :

> "वह सर्वभावेन दयास्वरूप थे। वह प्रांशु विशाल दर्शन भद्रपुरुष थे। उनका मेरे साथ व्यवहार कृपापूर्ण और पितृतुल्य था। वह शुद्ध भाषा प्रभावोत्पादक स्वर में बोलते थे। षड् दर्शनों में से वे वैशेषिक दर्शन को सबसे अधिक पसन्द करते थे। उनकी शिक्षा अद्वैत वेदान्त से भिन्न थी और उस समय मैं केवल एक इसी बात में उनसे सहमत थी।"

उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि स्वामी जी, स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार है, ऐसा मानते थे लेकिन चूंकि धार्मिक विषयों में वह स्वयं अव्यवस्थित थी अतः स्वामी जी के धर्म विचार विषयक प्रस्ताव को स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका।[1]

मेरठ में ही स्वामी की एक बार फिर कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की से भेंट हुई। शीघ्र ही दोनों अपनी सीमाएँ पहचान गये। वे लोग वेदों के 'अपौरुषेयत्व' अथवा ईश्वर कर्तृत्व में विश्वास नहीं करते थे। वे तो योगाभ्यास तथा उससे प्राप्त होनेवाली सिद्धियों और शक्तियों को ही मानते थे। दोनों पक्षों में काफ़ी विचार-विनिमय हुआ पर अन्त में किसी निर्णय पर पहुँचे बिना दोनों मेरठ से चले गये। तब स्वामी जी ने थियोसोफ़िकल सोसायटी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रखने की घोषणा कर दी लेकिन उन दोनों का स्वामी जी के प्रति आदर भाव बराबर बना रहा। मैडम ने बाद में लिखा :

> "शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर आक्रमण करने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।"

यहाँ से सहारनपुर, मुजफ़्फ़रनगर, देहरादून, आगरा होते हुए वे भरतपुर चले गये। उनके मन में एक योजना रूप ले रही थी। वे मानते थे कि देशी शासक

1. नव-जागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृ० 411

किसी-न-किसी रूप में अपने धर्म, अपनी संस्कृति तथा अपनी भाषा को प्यार करते हैं और जो उनके कार्यक्रम में निश्चय ही योग दे सकते है, इसीलिए वे राजस्थान की ओर मुड़े। एक और भी कारण था उनका वहाँ जाने का। वहाँ की जनता सामन्तवाद से इतनी त्रस्त थी कि वाणी ही नही, चेतना भी खो बैठी थी।

[14]

राजस्थान आने का निमंत्रण उन्हें मिल चुका था। जयपुर और अजमेर वे कई बार हो आये थे लेकिन इस बार अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए वे चित्तौड़ भी गये। वहाँ उनकी भेंट उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह से हुई। वे नवयुवक थे और चंचल भी। इसलिए कविराजा श्यामलदास और पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या चाहते थे कि स्वामी जी उदयपुर पधारें। सम्भवत: उनके प्रभाव से महाराणा सत्पथ पर चल सकें। स्वयं स्वामी जी भी चाहते थे कि राजस्थान के शासक प्रमाद, विषय-वासना और मद्यपान से मुक्त होकर प्रजा के दुख-दर्द को समझें। यही सोचकर उन्होंने राजस्थान में रहने का व्यापक कार्यक्रम बनाया था। लेकिन अभी उन्हें बम्बई जाना था, इसलिए वे फिर आने का वचन देकर इन्दौर होते हुए बम्बई चले गये। राजस्थान की जनता अन्धविश्वासों में किस सीमा तक जकड़ी हुई थी इसका पता चौधरी जालिमसिंह को लिखे उनके एक पत्र से लगता है। उन्होंने लिखा था, यहाँ के मनुष्यों का सुधार असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। बहुत काल में सुधरेंगे तो सुधरेंगे नहीं तो अधिक बिगड़ जायेंगे।[1]

बम्बई वे 29 दिसम्बर, 1881 को पहुँचे थे। यह नगर उन दिनों भारत की संस्कृति और राजनीति का केन्द्र था। यहाँ उन्होंने नाना विषयों पर बहुत से व्याख्यान दिये लेकिन इस बार गो-रक्षा के लिए विशेष प्रयत्नशील रहे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि गो-रक्षा का प्रश्न केवल हिन्दू-धर्म की परिधि तक सीमित नहीं रह सकता। उसका देश की व्यापक आर्थिक नीति से सम्बन्ध है। उन्होंने निश्चय किया कि तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर करवाकर एक निवेदन-पत्र महारानी विक्टोरिया को भेजा जाये। इसके लिए उन्होंने और उनके भक्तों ने अनथक प्रयत्न किये। अकेले शाहपुराधीश ने चालीस हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर भेजे थे। लेकिन दुर्भाग्य से अगले वर्ष ही उनकी असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। पर इससे कई ऐसी बातें स्पष्ट होती हैं जो प्रमाणित करती हैं कि उनकी विचारधारा संकीर्ण नहीं थी। इस प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर करनेवालों में मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या कम नहीं थी और

---

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, पृ० 44।

यह भी कि गाय-बैलों के अतिरिक्त इसमें भैंसों की भी हत्या न करने की प्रार्थना की गयी थी। कहते हैं कि इससे पूर्व स्वामी जी ने राजस्थान के पोलिटिकल एजेंट कर्नल ब्रुक्स से तो यहाँ तक कह दिया था कि भारत की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है और सांस्कृतिक जीवन की प्रतीक गाय का वध जारी रहा तो 1857 की क्रान्ति फिर दोहरायी जा सकती है।

परन्तु इसके बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता पर वह प्रार्थना पत्र तो 'गो करुणा निधि' के नाम से प्रकाशित हो चुका है और उपलब्ध है।

स्वामी जी लगभग छः महीने बम्बई में रहे और यहाँ के आर्य समाज को व्यवस्थित करके उदयपुर चले गये। यहाँ वे छः मास से कुछ अधिक समय तक रहे। महाराजा सज्जनसिंह उनके प्रति विशेष रूप से आकर्षित हो चुके थे। स्वामी जी के चरणों में बैठकर पहले उन्होंने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया फिर मनुस्मृति, योग दर्शन, वैशेषिक और महाभारत के चुने हुए प्रसंगों का अध्ययन किया।

स्वामी जी महाराणा को एक आदर्श शासक के रूप में देखना चाहते थे इसलिए वे महाराणा को बराबर प्रशासनिक सुधारों के लिए प्रेरित करते रहते थे। उन्होंने ही उन्हें पशु हत्या बन्द करने तथा प्रशासन में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग करने को प्रेरित किया। फिर भी युग-युग से बने संस्कार क्या कुछ दिनों में मिट सकते हैं। महाराणा ने सोचा कि और सब तो ठीक है पर यदि स्वामी जी मूर्ति-पूजा का खण्डन न करें तो उन्हें अधिक सफलता मिल सकती है। एक दिन साहस करके उन्होंने स्वामी जी के सामने प्रस्ताव रखा :

> "यदि आप नीति का अनुसरण करते हुए मूर्ति-पूजा के खण्डन में प्रवृत्त न हों तो आपके विचारों को लोग अधिक तत्परता से सुनेंगे।" (साथ ही उन्होंने यह भी कहा,) "कितना अच्छा हो यदि आप इस मन्दिर (एकलिंग महादेव) के महन्त बन जायें तो लाखों की सम्पत्ति आपके अधिकार में रहेगी जिसका उपयोग आप वेद भाष्य प्रकाशन तथा लोकोपकारी कार्यों में कर सकेंगे।"

महाराणा के इस विचित्र प्रस्ताव पर स्वामी जी मन-ही-मन हँसे और फिर प्रखर स्वर में बोले :

> "राणा जी, आप यह प्रस्ताव किस व्यक्ति के सामने रख रहे हैं। आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर ही इसके बाहर जा सकता हूँ परन्तु भला बताइये विश्व नियन्ता-परमात्मा के इस ब्रह्माण्डरूपी राज्य को छोड़कर मैं कहाँ जा सकता हूँ। वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।"

महाराणा यह सुनकर स्तब्ध रह गये। उसके बाद फिर ऐसी बात कहने का साहस वे नहीं कर पाये। इस प्रस्ताव में स्वामी जी ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर भी जोर दिया। पं. मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने यहाँ तक कहा था :

"जब तक समस्त देशवासी एक ही धर्म के अनुयायी, एक ही भाषा बोलने वाले तथा एक ही प्रकार के आचार-विचार एवं व्यवहार को धारण कर एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु सर्वात्मना कृतनिश्चय नहीं हो जाते तब तक स्वदेश की एकता तथा उसकी सर्वांगीण समृद्धि स्वप्नमात्र रहेगी।"

इसी समय गोरी सरकार ने शासकीय कार्यालयों के कामकाज में प्रयुक्त होनेवाली भाषा एवं लिपि के निर्धारण हेतु एक कमीशन की स्थापना की थी। स्वामी जी ने अनेक आर्य समाजों को पत्र लिखकर आदेश दिया कि वे अपने सभासदों को इस आयोग के समक्ष उपस्थित होकर आर्य भाषा हिन्दी के समर्थन में साक्षी देने की प्रेरणा करें।

इसी प्रवास में उन्होंने 'परोपकारिणी सभा' का पुनर्गठन किया। उन्होंने अपना 'स्वीकार पत्र' लिखकर 27 फ़रवरी, 1883 को मेवाड़ की कचहरी में पंजीकृत कराया। इसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि स्वामी जी का शरीरपात होने पर उनके पुस्तक, वस्त्र, धन, मंत्रालय आदि पर 23 सभासदों की इस समिति का अधिकार होगा, जिसे 'परोपकारिणी सभा' का नाम देकर गठित किया गया है।

यहाँ से स्वामी जी चित्तौड़ होते हुए 8 मार्च, 1883 को शाहपुरा पहुँचे। यहाँ लगभग दो मास रहे लेकिन इस बीच जोधपुर पधारने के लिए बराबर निमंत्रण आ रहे थे। इसलिए वे मार्ग की अनेक कठिनाइयों को सहते हुए 31 मई, 1883 को जोधपुर पधारे। बीच में वे अजमेर रुके। यहाँ उनके अनुयायियों ने कहा :

"जोधपुर की भूमि प्राकृतिक दृष्टि से तो रूक्ष तथा अनुर्वरा है ही वहाँ के लोग भी इसी प्रकार शुष्क प्रकृति, संवेदनहीन तथा कठोर स्वभाव के हैं। अतः वहाँ आपका जाना किसी भी प्रकार से श्रेयस्कर नहीं है।"

स्वामी जी जोधपुर नरेश की विलासिता के बारे में सुन चुके थे। इसीलिए वे वहाँ जाने को और भी उत्सुक थे। इसके अतिरिक्त महाराज के छोटे भाई अत्यन्त विचारशील और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि उनके आने से महाराज के अन्तर में भी सद्गुणों का उदय होगा। भला स्वामी जी उनका आग्रह कैसे टाल सकते थे! उदयपुर की तरह यहाँ भी स्वामी जी ने महाराज को मनुस्मृति के आधार पर राजधर्म का उपदेश दिया।

धीरे-धीरे स्वामी जी को चापलूस दरबारियों, महाराज की प्रेयसी नन्हीं भगतन के बारे में सब कुछ पता लग गया। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक पत्र लिखकर महाराज प्रतापसिंह को चेतावनी भी दी कि जिन लोगों पर सोलह लाख से अधिक जनसंख्या वाले विस्तृत राज्य के योगक्षेम का दायित्व है वे ही स्वकर्त्तव्यों से पराङ्मुख होंगे तो इस देश का भविष्य अन्धकारपूर्ण ही मानना चाहिए।

स्वामी जी को बार-बार चेताया गया कि महाराज के चरित्र के बारे में कुछ न कहा करें पर स्वामी जी तो भय को जीत चुके थे। एक दिन कर्नल प्रतापसिंह ने पूछा कि हमें कोई ऐसा काम बतलाएँ जिससे हमारा मोक्ष हो। स्वामी जी बोले :

> "काम तो तुम्हारे मोक्ष के नहीं हैं परन्तु एक न्याय तुम्हारे हाथ में है यदि न्यायपूर्वक प्रजापालन करोगे तो तुम्हारा मोक्ष हो सकता है।"

इन्हीं बातों का यह प्रभाव हुआ कि कर्नल प्रतापसिंह के हाथ में जब सत्ता आयी तो उन्होंने हिन्दी को राज-काज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया और राज-कर्मचारियों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया था।

उनके भाषणों की तीव्रता से जोधपुर राज्य के मंत्री भैया फ़ैज़ुल्ला खाँ भी बहुत परेशान थे। एक-दो बार तीव्र झड़पें भी हुईं। धीरे-धीरे स्वामी जी का विरोध बढ़ने लगा। नन्हीं भगतन तो उनके हस्तक्षेप से बेहद नाराज थी। महाराजा जसवन्तसिंह वैचारिक स्तर पर तो स्वामी जी से सहमत थे पर मानसिक दुर्बलताओं और सामन्ती जीवन के विषाक्त वातावरण के कारण अपने को व्यसनों से मुक्त न कर सके।

चार महीने हो चले थे और वातावरण धीरे-धीरे विक्षुब्ध हो रहा था। 12 सितम्बर को उनका विश्वसनीय सेवक पाँच-छः सौ रुपये का माल लेकर भाग गया। यह किसी षड्यंत्र का पूर्वाभ्यास था। 29 सितम्बर को वे सदा की तरह दूध पीकर सोये परन्तु मध्य रात्रि में पेट में तीव्र दर्द उठा। तीन-चार क़ै भी हुईं। 30 सितम्बर को सवेरे उठे तो फिर वमन हुआ। वह समझ गये उन्हें विष दिया गया है। डॉक्टर आये और गये पर स्वामी जी की अवस्था बिगड़ती चली गयी। 12 अक्तूबर तक यह समाचार बाहर नहीं गया। उसी दिन के राजपूताना गजट में यह पहली बार छपा। जब अजमेर में किसी ने इसे पढ़ा तो तुरन्त एक सदस्य वहाँ पहुँचा, फिर तो तार द्वारा सभी स्थानों पर सूचना दी गयी।

उनके प्रारम्भिक जीवनी लेखक निश्चय से कुछ नहीं कह सके पर परवर्ती शोधकर्ताओं का मत है कि उन्हें न केवल विष दिया गया बल्कि उनकी चिकित्सा

में भी जान-बूझकर प्रमाद किया गया। यह विष संखिये का था। सम्भवतः इसमें पिसा हुआ काँच भी रहा हो। जब डॉ. अली मर्दान को यह अनुभव हुआ कि स्वामी जी की मृत्यु भी हो सकती है तो वह घबरा गया। उसने तुरन्त उन्हें आबू ले जाने का सुझाव दिया। रेजीडेंसी के डॉक्टर ने उसका समर्थन किया।

एक बार फिर वही कष्टकर मार्ग। वे जोधपुर से 16 अक्तूबर को चले और किसी तरह 20 अक्तूबर को आबू रोड स्टेशन पहुँचे। आबू जाते समय उन्हें डॉ. लक्ष्मणदास मिले। उनकी दवा से कुछ चेतना लौटी पर डॉक्टर साहब का अजमेर तबादला हो गया था। उन्होंने बहुत चाहा, त्यागपत्र तक दिया पर, उन्हें अजमेर जाना ही पड़ा। स्वामी जी नहीं चाहते थे कि उनके कारण डॉक्टर नौकरी छोड़े। छः दिन बाद 26 अक्तूबर को स्वामी जी को भी अजमेर लाना पड़ा। आबू में उन्हें कोई लाभ नहीं हो रहा था। मार्ग में उन्होंने अत्यन्त उष्णता से मुक्ति पाने के लिए दही खा ली। उसके फलस्वरूप उन्हें निमोनिया हो गया। डॉ. लक्ष्मणदास ने चिकित्सा करने में कोई क़सर न उठा रखी लेकिन मृत्यु के पद्चाप बहुत पास सुनाई पड़ रहे थे। देश के कोने-कोने से भक्तजन आ रहे थे। स्वामी जी जान गये थे इसलिए डॉक्टर के मना करने पर भी उन्होने अपना पलंग बरामदे में लाने की हठ की। डॉ. लक्ष्मणदास के आग्रह पर सिविल सर्जन को बुलाया गया। वे स्वामी जी के अपूर्व आत्मबल से बड़े प्रभावित हुए पर विशेष कुछ न कर सके। स्वयं स्वामी जी ने कहा, "मेरा अन्त समय आ गया है, अतः उपचार छोड़ दो।"

उस दिन दीवाली थी, तमस पर प्रकाश की विजय का पर्व। जीवन भर वे भी तमस के विरुद्ध युद्ध करते रहे थे। उनके सारे शरीर पर फफोले उभर आये थे। श्वास तीव्र गति से चल रही थी। उन्होंने नेत्र खोले। नयनों में नीर भरे अनेक भक्त वहाँ खड़े थे। स्वामी जी ने उन्हें पीछे खड़े हो जाने के लिए कहा, बोले, "सब द्वार खोल दो। प्रकाश को आने दो।"

द्वार खुलते ही प्रकाश भर उठा। उन्होंने पूछा, "आज कौन-सा दिन, कौन-सी तिथि और कौन-सा पक्ष है?"

एक भक्त ने उत्तर दिया, "कृष्ण पक्ष का अन्त और शुक्ल पक्ष का आरम्भ है। तिथि अमा है और वार मंगल।"

स्वामी जी का मन खिल उठा। उन्होंने चारों ओर देखा। फिर मंत्रोच्चार करने लगे :

तेरी मधुर याद जब जागे, हो जाता कैसा उन्माद,
अपने में ही खोया-सा मन अपने से करता सम्वाद,
कब होगा यह यज्ञ शेष, कब होगी अन्तिम आहुति,
कब इस आहृत जीवन का प्रभु कर लोगे स्वीकार प्रसाद।

(ऋक्०-7।86।2)

मंत्रोच्चार करते-करते वे समाधिस्थ हो गये। कुछ क्षण बाद आँखें खोलीं। मधुर स्वर में बोले, "हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान, तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। तूने अच्छी लीला की" और ओम का उच्चारण करते हुए प्राणों को मुक्त कर दिया। जीवात्मा प्रियतम से मिलकर पूर्णकाम हो गयी। कविवर नाथूराम शर्मा 'शंकर' के शब्दों में :

शंकर दिया बुझाय दिवाली को देह का
कैवल्य के विशाल भवन में विला गया।

स्वामी जी चले गये परन्तु भारत के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय नव जागरण में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी मान्यताओं और सिद्धान्तों ने एक बार तो हीन भाव ग्रस्त इस जाति को अपूर्व उत्साह से भर दिया था। अन्धविश्वास और कुरीतियों के जाल से मुक्त होकर उन्होंने जिस गतिमय मार्ग को अपनाया था, जिस वैचारिक क्रान्ति को जन्म दिया था वही मार्ग आज हमें वैज्ञानिक युग में ले आया है। किसी भी देश के इतिहास के लिए यह उपलब्धि अत्यन्त गौरव का विषय हो सकती है, और है।

[15]

उनका मूल्यांकन करना इस पुस्तिका के विषय के क्षेत्र में नहीं आता। उन्होंने कहा था कि धर्माचार्य और नेताओं के प्रमाद के कारण जातियों के आचार-विचार दूषित हो जाते हैं। आर्य जाति की भी यही दशा हुई है। इसे यदि उपदेशों के कोड़े से न जगाया गया और कुरीतियों को नष्ट न किया गया तो इसकी मृत्यु में ही क्या है। मैं यह काम किसी स्वार्थ से तो कर नही रहा। जाति और धर्म के लिए ही मैं सब कुछ सहन करता हूँ।

वे सचमुच राष्ट्रीय संगठन और पुनर्निर्माण के मसीहा थे। उन्होंने नवजागरण की जिस सामाजिक सेना का निर्माण किया था उसी का नाम हुआ आर्यसमाज। फ्रांस के मनीषी रोमां रोलां के शब्दों में :

> "आर्यसमाज सब मनुष्यों और देशों के प्रति न्याय और स्त्री-पुरुषों के समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और जन्मना जाति-पाँति का विरोधी है। ...मी दयानन्द से बढ़कर हरिजनों के हितों का रक्षक दूसरा कोई कठिनाई ...मिलेगा। स्त्रियों को दयनीय स्थिति से उबारने, समान अधिकार ...ने बड़ी उदारता और बहादुरी से काम लिया।"

इतिहास आज भी आर्यसमाज की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। आवश्यकता है नये परिवेश में नये माध्यमों को स्वीकार करने की, गतिमय होने की। उसमें पुराना छूट सकता है। वह छूटना नये को शक्ति देने के लिए होता है। स्वामी दयानन्द ने बार-बार पुराने को छोड़ा, बार-बार नये का निर्माण किया।

कुछ लोगों का विचार है कि उस समय स्थिति सचमुच विस्फोटक थी। ब्रिटिश सरकार ने स्थिति को पहचान लिया था और उन्हीं की मंत्रणा से श्री ह्यूम ने ठीक समय पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना करके क्रांति की धारा को कुण्ठित कर दिया। सन् 1857 की असफल क्रांति के पच्चीस वर्ष बाद उन्होंने, 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा :

> "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। मत-मतान्तर के आग्रह से रहित और अपने-पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। बार-बार उन्होंने यही कहा, अन्य देश-वासी राजा हमारे देश में कभी न हो।"
>
> —आर्याभिविनय, पृ० 248

एक बार भारत के वायसराय ने उनसे कहा था, "आप ईश्वर से यह माँग करें कि भारत पर अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया बराबर बनी रहे।" स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया था, "मैं अपनी मातृभूमि को स्वच्छन्द (स्वतंत्र) राज्यों की पंक्ति में खड़ा देखना चाहता हूँ।"[1]

उन्होंने स्वदेशी का पूर्ण समर्थन किया। नमक पर कर लगाने के वे प्रबल विरोधी थे। किसानों के लिए उन्होंने लिखा है, "राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं और राजा उनका रक्षक है।"

स्वामीजी की इन मान्यताओं ने राष्ट्रीयता, उग्र राजनीति और क्रांति की भावना को गति दी। इसलिए देश को स्वतंत्र कराने के जितने भी आन्दोलन हुए उन पर किसी-न-किसी रूप में आर्य समाज का प्रभाव रहा। इसीलिए स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगड़ी संस्थान बहुत वर्षों तक भारत की गोरी सरकार का कोपभाजन बना रहा। हिंसा के मार्ग से भारत को स्वतंत्र कराने के लिए कृत-संकल्प अनेक क्रांतिकारी भी आर्यसमाज के सदस्य थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, चौधरी रामभज दत्त, डॉ. सत्यपाल, भाई बालमुकुन्द गुप्त, रामप्रसाद बिस्मिल और मास्टर गेंदालाल आदि कुछ ऐसे

---

1. भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आर्यसमाज, प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु, पृ० 11

नाम हैं जो भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाएँगे। सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी सरदार अजितसिंह और सरदार भगतसिंह भी आर्यसमाजी परिवार के ही सदस्य थे। लोकमान्य तिलक और दादा भाई नौरोजी और महात्मा गाँधी आदि राष्ट्र नेता स्वामीजी की राष्ट्रभक्ति से बहुत प्रभावित थे। दादा भाई नौरोजी ने स्पष्ट कहा है कि उन्होंने 'स्वराज्य' शब्द स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ-प्रकाश' से सीखा है।

उन्होंने न तो किसी नये धर्म की स्थापना की, न किसी नये दार्शनिक विचार का प्रतिपादन किया। वैसे उन्हें विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक माना जाता है। आत्मा, परमात्मा और प्रकृति वे तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर कुछ विद्वान मानते हैं कि वे मूलतः अद्वैत के उपासक हैं। वस्तुतः एक महान् समाज-सुधारक और नवजागरण के पुरोधा के रूप में उनका जैसा और जितना योगदान है वैसा और उतना दर्शन के क्षेत्र में नहीं है। उनके एकेश्वरवाद को पैग़म्बरी एकेश्वरवाद के विरोध में वैदिक एकेश्वरवाद कहा जाता है पर ऐसा है नहीं। वे द्वैतवाद के समर्थक थे या अद्वैत के, यह विवाद हमारे क्षेत्र से बाहर है। इतना निश्चित है कि वे परम आस्तिक थे। इस क्षेत्र में उनका सबसे बड़ा योगदान वेदों के अर्थ करने की सही रीति खोज लेने में है।

हम देख आये हैं कि उनके जीवन में संकीर्णता का नितान्त अभाव था। वे भारत को एक देखने को आतुर थे। उनके विचारों से मतभेद हो सकता है पर भावना से नहीं। उनकी कार्य-प्रणाली को उस युग की स्थिति के परिप्रेक्ष्य में ही आँका जा सकता हैं। जब वह अलीगढ़ पधारे थे तब सर सैयद अहमद ने उन्हें अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया तो वह बोले :

> "आपके घर खाना खाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं परन्तु खाऊँगा नहीं। स्वार्थी लोगों ने जनता को गुमराह करने के लिए अफ़वाह फैला रखी है कि मैं मुसलमान और ईसाइयों का दूत हूँ। हिन्दू धर्म को भ्रष्ट करना चाहता हूँ। आपके घर खा लिया तो उनको मनचाहा प्रमाण मिल जाएगा।"

उनके देहावसान पर अनेक मुस्लिम भद्र पुरुषों ने भक्तिभाव पूर्ण उद्‌गार प्रगट किये हैं। सूफ़ी फ़क़ीर रहीम बख़्श की ऐसी ही मार्मिक श्रद्धांजलि के साथ हम उनकी जीवन गाथा को समाप्त करते हैं :

सचाई पर झुठाई कभी ग़ालिब आती नहीं।
और वलियों की जुबां से बुराई सुनी जाती नहीं॥
किसी चीज़ की क़ीमत उसका वक़्त आने पर होती है।
मुल्क हिन्द में वलियों की क़ीमत ज़माना गुज़र जाने पर होती है।

दयानन्द ने ही इस मुल्क को गहरी नींद से जगाया।
हाय अफ़सोस कि एवज में हमने उन्हें ज़हर पिलाया।।
हिन्दू हो चाहे हो मुसलमां इस मुल्क हिन्द का।
इंसाफ़ से बोलो कि दयानन्द था इस ज़माने में रहनुमा सबका।।

वतन को बचाया मजहब को बचाया।
था इन पर अंग्रेज़ों का गलबा छाया।।
मेरा हाथ जोड़ के है उनके क़दमों में सलाम।
मेरा ज़मीर का है यही सच्चा ईमान और पैग़ाम।[1]

1. श्री राजनाथ पाण्डेय का लेख, धर्मयुग, 9 नवम्बर, 1980

खण्ड : दो

हिन्दी भाषा और साहित्य को योगदान

[1]

स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और एक लम्बे अरसे तक अन्य भाषा-भाषियों से सरल संस्कृत में ही बात करते थे। निश्चय ही निरन्तर हिन्दी प्रदेशों में भ्रमण करते-करते उन्होंने कामचलाऊ टूटी-फूटी हिन्दी सीख ली होगी पर अपने विचारों को गम्भीरता से प्रगट करते समय वे सरल संस्कृत का ही प्रयोग करते थे। अपने बंगाल-प्रवास के दौरान ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे मनीषियों के आग्रह पर ही उन्होंने प्रचलित लोकभाषा (हिन्दी) में अपना प्रचार-कार्य आरम्भ किया।

वह क्षण निश्चय ही हिन्दी भाषा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जा चुका है जब एक बाङ्ला भाषा-भाषी के आग्रह पर एक गुजराती भाषा-भाषी ने प्रचलित लोकभाषा में बोलना और लिखना स्वीकार किया। सन् 1873 के मार्च में सम्भवत: यह घटना घटी। उस समय उनकी आयु लगभग 48 वर्ष की थी। और उसके लगभग पन्द्रह माह बाद यानी जीवन के पचासवें वर्ष में उन्होंने काशी में हिन्दी में अपना पहला भाषण दिया। उनके भाषण साधारण नहीं होते थे। उन्हें अपना पक्ष समर्थन करने के लिए अनेक धर्मग्रन्थों से प्रमाण देने पड़ते थे और ऐसी तर्कसम्मत भाषा का प्रयोग करना पड़ता था जो विरोधी-पक्ष को निरस्त्र कर सके। कल्पना की जा सकती है कि कितनी तन्मयता और सूझ-बूझ से उन्होंने हिन्दी भाषा की आत्मा को आत्मसात करने का प्रयत्न किया होगा। भाषा के ज़रा-से भी गलत प्रयोग से अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना रहती है, विशेषकर शास्त्रार्थ के अवसर पर। जैसाकि उनके जीवनीकार देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के वर्णन के आधार पर हमने देखा कि वे उस भाषण में वाक्य-के-वाक्य संस्कृत में बोल गये थे। भाषा पर पूर्ण अधिकार करने में उन्हें काफ़ी समय लगा। जिस समय स्वामी जी ने हिन्दी को अपनाया, उस समय देश में उसकी क्या स्थिति थी, यहाँ यह जान लेना आवश्यक है।

हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासकार मानते हैं कि नियमित रूप से खड़ी बोली हिन्दी गद्य का विकास ईसा की उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ। इस समय दो मुख्य लेखक जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से रचनाएँ कीं, मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्ला खाँ हैं। उनसे भी पूर्व श्री रामप्रसाद निरंजनी विक्रमी सं० 1798 में (सन् 1741) में 'योगवशिष्ठ' नाम की पुस्तक लिख चुके थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार इन लेखकों की रचनाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरी भारत के जन-समुदाय में हिन्दी और उर्दू दो खड़ी भाषाओं का स्वतन्त्र विकास हो रहा था। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाये हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पण्डित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान होते थे उनकी वाणी में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।"[1]

इस समय भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। उसे इस देश की भाषा को जानना अपना शासन सुदृढ़ करने की दृष्टि से अनिवार्य था। इसीलिए सन् 1800 में उसने फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज के प्रधानाध्यापक गिलक्राइस्ट महोदय यद्यपि उर्दू के पक्षधर थे पर हिन्दी की अवहेलना करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था क्योंकि जनसाधारण में हिन्दी का प्रचलन था। इसलिए गोरों ने दोनों भाषाओं को प्रोत्साहित किया। इस कालेज में सर्वश्री लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अनेक हिन्दी ग्रन्थों की रचना की। पं. उनमें लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' और श्री सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं पर ये दोनों ही ग्रन्थ मौलिक नहीं थे। पूर्व प्रचलित ब्रजभाषा और संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये थे। भाषा भी इनकी परिमार्जित नहीं है। लल्लूलाल पर ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत अधिक है। सदल मिश्र की भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट है।

हिन्दी गद्य के प्रसार में ईसाई प्रचारकों का योगदान भी भूलने योग्य नहीं है। उद्देश्य उनका निश्चय ही अपने धर्म को जनता में लोकप्रिय बनाना था और वह उस समय की लोक प्रचलित भाषा हिन्दी के माध्यम से ही हो सकता था। इसलिए उन्होंने बाइबिल का हिन्दी में अनुवाद किया। अनेक पुस्तकें तथा विज्ञापन आदि हिन्दी में लिखे। पाठशालाएँ भी स्थापित कीं। पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं। वे प्राय: संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग करते थे। पाठ्य-पुस्तकों की रचना में अनेक

1. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त पृ० 12

विदेशी भाषाओं की पुस्तकों से अनुवाद भी करना होता था। इससे एक लाभ यह हुआ कि हिन्दी गद्य भी परिष्कृत हुआ।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे हिन्दी गद्य के विकास को गहरी क्षति पहुँची। चूँकि ईसाई प्रचारक हिन्दी के माध्यम से ईसाई मत का प्रचार कर रहे थे इसलिए कम्पनी की सरकार में सरकारी दफ्तरों की भाषा भी हिन्दी कर दी। अब तक फ़ारसी भाषा ही शासन और न्याय की भाषा थी। उसको अपदस्थ होते देखकर उर्दू भाषा के समर्थक क्रुद्ध हो उठे। उनमें फ्रांसीसी प्राध्यापक गार्सा द तासी प्रमुख थे। उनका तर्क था "हिन्दी, हिन्दू धर्म की प्रतीक है लेकिन उर्दू, मुसलमानों की भाषा है जो बाइबिल को मान देते हैं। उनका मत ईसाई मत से मिलता-जुलता है।" विदेशी शासकों में हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की प्रवृत्ति शुरू से ही रही है। इन उर्दू समर्थकों ने हिन्दी को गँवारू और भद्दी भाषा कहते हुए संयुक्त प्रदेश के शिक्षा सचिव श्री हैवेल के शब्दों में घोषणा की, "यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी बोली में विचार करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"[1] और सचमुच एक ही वर्ष में उनके दबाव में आकर सरकार ने सन् 1837 में उर्दू को सरकारी कामकाज की भाषा के पद पर बैठा दिया। लेकिन ये लोग न तो जनता के मन से और न पाठशालाओं से हिन्दी को हटा सके। उस समय यदि कोई समझदार व्यक्ति इस दूरी को मिटाकर इन दोनों को पास लाने का प्रयत्न करता तो इतिहास कुछ और ही होता।

लेकिन दुर्भाग्य से तब राजा शिवप्रसाद जैसे व्यक्ति प्रमुख थे। वे विद्यालयों के निरीक्षक थे और शासकों को खुश रखना उनका प्रथम कर्तव्य था। यद्यपि उन्होंने देवनागरी लिपि का समर्थन किया पर भाषा उर्दू कर दी। यह सब उन्होंने अपना हित साधने के लिए किया। 1 जनवरी, 1884 को हेनरी पिनकाट ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को जो पत्र लिखा था उसमें वह स्पष्ट कहते हैं :

> "राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस वर्ष हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं···इसलिए बड़े चाल से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।[2]

इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह की मान्यता थी कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और अरबी-फ़ारसीमय उर्दू मुसलमानों की। उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा को अपनाया।

---

1. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ० 51
2. वही, पृ० 14

ऐसी विषम स्थिति में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने रंगमंच पर प्रवेश किया। उन्होंने हिन्दी को नयी दिशा दी। हिन्दी साहित्य में नये प्राण फूंके। वे सही अर्थों में आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक बने। उन्होंने हिन्दी गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित करके नये साँचे में ढाला लेकिन कविता की भाषा को लेकर अब भी मतभेद था। अभी तक सारे देश में ब्रजभाषा लोकप्रिय रही थी। उसके समर्थक मानते थे कि खड़ी बोली 'चूरन बेचनेवालों' की भाषा है। उसमें काव्य-रचना सम्भव नहीं हो सकती। स्वयं भारतेन्दु का यही मत था। उन्होंने अपने नाटकों में पद्य के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। जो उर्दू के समर्थक थे उन्हें हिन्दी का विरोध करने के लिए यह एक अच्छा साधन मिल गया। उर्दू में गद्य और पद्य की भाषा एक ही है, हिन्दी में दो। यह हिन्दी का दोष है। इसका कारण था कि तब बहुत-से व्यक्ति उर्दू पढ़ना पसन्द करते थे।[1] वह सरकारी कामकाज की भाषा भी थी।

स्वामी दयानन्द भी इसी अवधि में हिन्दी की ओर झुके। सन् 1873 से पूर्व हिन्दी भाषा की ओर उनका ध्यान नहीं गया था लेकिन जब ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ने उनसे लोक प्रचलित भाषा में प्रचार करने का आग्रह किया तो वे बहुत शीघ्र इसकी शक्ति और सामर्थ्य को पहचान गये। उनकी मातृभाषा गुजराती थी लेकिन उन्होंने हिन्दी को ऐसे अपना लिया और एक दृष्टि से नौ वर्ष के अल्पकाल में (सन् 1873-1883) वह काम कर गये जो बड़े-से-बड़ा हिन्दी-भाषी भी नहीं कर सका। उसके बाद उन्होंने अपने सभी व्याख्यान हिन्दी में दिये, सभी ग्रन्थ हिन्दी में लिखे और शास्त्रार्थ तक हिन्दी में करने लगे। पत्र-व्यवहार की भाषा भी हिन्दी हो गयी। उनके सभी विज्ञापन हिन्दी में प्रकाशित होते थे। उनके आदेश पर कई आर्य समाजों ने हिन्दी में पत्र-पत्रिकाएँ निकालीं, पाठशालाएँ खोलीं। उन्होंने आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिन्दी पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य कर दिया।[2] वे इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि हिन्दी ही देश को एकता के सूत्र में पिरो सकती है। उनके लिए देश सर्वोपरि था। उनकी अनेक बातों से मतभेद हो सकता है पर उनकी देशभक्ति पर सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने इसे जन-जागरण के लिए ऐसे ही अपनाया था जैसे प्राचीन काल में तथागत बुद्ध और भगवान महावीर ने उस समय की लोकप्रचलित भाषा पाली और प्राकृत को अपनाया था।

स्वामी जी के कार्य का मूल्यांकन करते समय एक और विशेष बात की ओर

1. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 77
2. सब आर्य और आर्य सभासदों को संस्कृत और आर्यभाषा जाननी चाहिए—उपनियम सं० 35

हमारा ध्यान जाना चाहिए। हिन्दी के प्रति उनका यह अनुराग किसी अन्य भाषा के प्रति द्वेष के कारण नहीं है। वे न केवल अपने देश की दूसरी भाषाएँ बल्कि विदेशी भाषाओं को सीखने का आग्रह भी करते हैं। जहाँ एक ओर वे यह कहते हैं कि दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का ऐक्य-सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं, वहीं वे उतने ही आग्रहपूर्वक कहते हैं कि "जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करायें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।" वे मानते थे कि व्यक्ति को बहुभाषाविद् होना चाहिए। प्राचीनकाल से आर्य लोग कई-कई भाषाएँ जानते थे। नाना जातियों का मिलन और उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होते रहते थे। इस कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। 31 जुलाई सन् 1875 को पुणे में इतिहास विषयक अपने बारहवें व्याख्यान में वे स्पष्ट बताते हैं कि लाख के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को वर्बरदेश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी। तभी पाण्डव लाख के घर में जलने से बच गये थे।

यही नहीं, तत्कालीन पोंगा पंथियों का उपहास करते हुए उन्होंने आगे कहा :

> "देखो ! विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं को जाननेवाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाएँ बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजाओं से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं तो वे कहने लगते हैं :
>
> न वदेद यावनीभाषा प्राणैः कण्ठ गतैरपि।
> हस्तिन्ते ताड्य मानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम् ॥
>
> —यदि प्राण गले तक आ जाए अर्थात् मृत्यु का समय तक क्यों न आ जाए परन्तु यावनी भाषा नहीं बोलनी चाहिए और मत्त हाथी भी सामने से आता हो तो जैन मन्दिर में कदापि आश्रय न लेवें।" (पृ० 76)

स्वामी जी को उर्दू भाषा से कोई द्वेष नहीं था। उनसे पत्र-व्यवहार करने वालों में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो उन्हें उर्दू में ही पत्र लिखते थे।

वे इस देश को आर्यावर्त और यहाँ के निवासियों को आर्य कहते थे। उनकी राय में प्रारम्भिक युग में दो ही वर्ग थे आर्य अर्थात सज्जन और दस्यु अर्थात दुष्ट।

[2]

प्रश्न उठ सकता है कि क्या स्वामी जी को प्रचलित अर्थों में सर्जक या साहित्य निर्माता माना जा सकता है। न तो उन्होंने उपन्यास लिखे, न नाटक, न कविता बल्कि नाटक के तो वे प्रबल विरोधी थे। ऐसा लगता है कि उस समय की नाटक मंडलियों के फूहड़ और अश्लील प्रदर्शनों के बारे में सुनकर उनकी ऐसी धारणा बन गयी थी। उस युग के दूसरे नेताओं ने भी उन प्रदर्शनों की निन्दा की है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसीलिए उन्हें नया रूप देने का प्रयत्न किया था और सफल प्रयत्न किया था लेकिन अपने पवित्रतावादी दृष्टिकोण के कारण स्वामी जी मानते थे कि नाटकों में श्रृंगारिकता और वासना का प्राधान्य होने के कारण ब्रह्मचर्य पालन में बाधा पड़ती है। इस प्रकार की धारणा प्राचीनकाल में बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों में भी प्रचलित थी। एक पत्र में स्वामी जी लिखते हैं :

"विदित हो कि तुम आर्य समाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है, यह आर्य समाज है, भडुआ समाज नहीं। जो तुम नाटक का विषय छापते हो ऐसा करना भडुआपन की बात है। इसलिए ऐसा वर्तना उचित नहीं है।"[1]

वे आगे लिखते हैं :

"नाटक का विषय तो नाममात्र भी नहीं आना चाहिए, जो अच्छा विषय भी लिखना हो वह प्रश्नोत्तर वा अन्य प्रकार से लिखा जाए। नाटक (नाम) तमाशा का है क्योंकि तुम्हारे नाटकों को देख के लखनऊ समाज में नाटक का व्याख्यान ही होने लगा। जब हमने मना किया तो कहने लगे कि अपने फ़र्रुखाबाद समाज (के) पत्र में नाटक क्यों छपता है। यह नाटक के बिगाड़ने का उदाहरण है।"[2]

बहुत दिनों तक आर्य समाज में इस विषय को लेकर वाद-विवाद चलता रहा लेकिन जैसे-जैसे मानव मूल्य बदलते रहे और नाट्यकला परिष्कृत होती रही वैसे-

1. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० 366
2. वही, पृ० 376

वैसे जन-जागरण की दृष्टि से उसकी शक्ति भी प्रगट होती रही। तब आर्य समाज ने भी उसे एक सशक्त प्रचार माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया। नवीन रंग-मंच, चल-चित्र, रेडियो और दूरदर्शन ने इस कला को व्यापक फलक ही नहीं दिया इसे एक श्रेष्ठ कला के रूप में भी प्रतिष्ठित किया। वस्तुत: दोष माध्यम का नहीं होता उसके प्रयोग करनेवालों का होता है। स्वाधीनता-संग्राम के युग में जन-जन में स्वाधीनता की चेतना जगाने में इस माध्यम ने अत्यन्त प्रभावशाली योगदान किया। ऐसा न होता तो गोरी सरकार अनेक प्रसिद्ध नाटकों के प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध क्यों लगाती?

कविता के क्षेत्र में भी स्वामीजी की पवित्रतावादी धारणा ने काफ़ी क्षति पहुँचाई। आर्यसमाज के कवि एक युग तक शृंगार प्रधान कविताओं से परहेज करते रहे। कवि नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने अपनी ऐसी अनेक कविताएँ जला डाली थीं। फिर भी सृजन के क्षेत्र में स्वामीजी का योगदान है। उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखी है। पर जैसा हम कह आये हैं वह नितान्त अधूरी और अपर्याप्त है। अपनी इस आत्मकथा में उन्होंने अपनी यात्राओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन भी किया है। कहीं-कहीं वह वर्णन अत्यन्त रोमांचक और मर्मस्पर्शी है।

इसी तरह एक और क्षेत्र में उनका योगदान स्वीकार करना पड़ेगा। व्याख्यान देते समय वे दृष्टान्त रूप में कथाएँ भी सुनाया करते थे। उन्हें हम आधुनिक लघुकथा के स्रोत के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। प्रत्यक्ष रूप में उनकी यही सर्जनात्मक उपलब्धि है। शेष सब तो धर्मग्रंथ और भाष्य हैं लेकिन भाषा और शैली की दृष्टि से उनके महत्त्व को नहीं नकारा जा सकता। विशेष रूप से इसलिए और भी कि तब खड़ी बोली का गद्य निर्माण की स्थिति में था।

एक बात बहुत कम लोग जानते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सुप्रसिद्ध नाटक 'अन्धेर नगरी' कथ्य की दृष्टि से उनकी मौलिक कृति नहीं है। स्वामी दयानन्द इस कथा का प्रयोग उनके नाटक के लिखे जाने से दो वर्ष पूर्व कर चुके थे। अपनी पुस्तक 'व्यवहार भानु' में आदर्श राजा के रूपक के रूप में उन्होंने इस कथा को अपनी भाषा में लिखा है। नाटक सं० 1938 (1881) में प्रकाशित हुआ और 'व्यवहार भानु' का प्रकाशन वर्ष सं० 1936 (सन् 1879) है। वास्तव में यह कथा तब इस देश में 'लोक कथा' के रूप में प्रचलित थी। भारतेन्दु ने यह नाटक कैसे लिखा इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु ग्रंथावली में श्री रामदीन सिंह लिखते हैं:

> "दक्षिण में पारसी और महाराष्ट्र नाटक वाले प्राय: अन्धेर नगरी का प्रहसन खेला करते हैं परन्तु उन लोगों की भाषा और प्रक्रिया सब असम्बद्ध होती है। ऐसा ही इन थियेटरवालों (हिन्दू नेशनल थियेटर) ने भी खेलना चाहा था

और अपने परम सहायक भारत भूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से अपना आशय प्रगट किया। बाबू साहब ने यह सोचकर बिना किसी काव्य-कल्पना के वा बिना कोई उत्तम शिक्षा निकले जो नाटक खेला ही गया तो इसका फल क्या, इस कथा को काव्य में बाँध दिया। यह प्रहसन पूर्वोक्त बाबू साहब ने उस नाटक के पात्रों के अवस्थानुसार एक ही दिन में लिख दिया है···।"[1]

भारतेन्दु नाटक को वहीं समाप्त कर देते हैं जहाँ लोग राजा को टिकटी पर खड़ा करते हैं परन्तु स्वामीजी उसको फाँसी लग जाने के बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाते हैं और उसके 'सुराज' का वर्णन भी करते हैं :

"और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक विद्वान पुत्रवत प्रजा का पालन करनेवाली राज सहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज सम्बन्ध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है।"[2]

डॉ. राममनोहर लोहिया ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से कहा था कि किसी भी देश पर मध्यप्रदेश का शासन होता है, सीमांत प्रदेशों का नहीं। भारत के मध्यप्रदेशों की भाषा हिन्दी है। वही देश की राजभाषा होगी। इसी बात को पिछली शताब्दी में स्वामीजी ने समझ लिया था और इसीलिए मध्य देश की भाषा (हिन्दी) के प्रचार को मुख्य सुधार की नींव समझकर उसे राजभाषा का स्थान दिलाने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमीशन के पास हिन्दी के पक्ष में स्थान-स्थान से स्मरण-पत्र भिजवाये।[3]

उन्होंने उस समय के राजाओं को प्रेरित किया कि वे अपने राज्य का काम-काज सरल हिन्दी में चलावें। उनकी सलाह पर उदयपुर के महाराजा ने साधारण लोगों की समझ में आनेवाली सरल हिन्दी को राजभाषा बनाया और नागरी लिपि को स्वीकार किया। राजकीय कार्यालयों के नाम संस्कृत शैली के अनुसार रखे जैसे महद्राज सभा, शैलकान्तार सम्बन्धिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्प सभा आदि।[4]

स्वामीजी ने जोधपुर नरेश को भी राजकुमारों को पहले देवनागरी भाषा,

---

1. भारतेन्दु ग्रंथावली, नागरी प्रचारणी सभा, पृ० 164
2. दयानन्द ग्रंथावली, शताब्दी संस्करण, पृ० 769
3. महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, सं० भगवद्दत्त, पृ० 355, 378
4. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृ० 68 पर उद्धृत प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के लेख से।

फिर संस्कृत और उसके बाद (समय हो तो) अंग्रेजी पढ़ाने की सलाह दी थी। एक बार हिन्दी को देश की एकता की भाषा स्वीकार कर लेने पर उन्होंने जीवन के अंतिम क्षण तक उसके प्रचार और प्रसार के लिए अनथक प्रयत्न किये और किसी दूसरी भाषा के प्रति द्वेष रखे बिना किये।

"उन्होंने श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को वेदभाष्य के डाक पार्सलों पर देवनागरी में पते लिखने की प्रेरणा दी। उन्होंने महाराष्ट्र के स्वनामधन्य सुधारक श्री गोपाल हरिदेशमुख को आर्यभाषा के प्रचार में अपना पुरुषार्थ प्रगट करने को लिखा। उन्हीं की प्रेरणा पर कर्नल आलकाट ने नागरी पढ़नी आरम्भ की। एक सज्जन ने जब उनसे उनके ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुमति चाही तो उन्होंने लिखा, "जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा को सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए होते हैं।"

इसी तरह मैडम ब्लैबट्स्की को उन्होंने लिखा था,

"भारत की आर्य जनता (अंग्रेजी के विद्यार्थी) मेरे वेद भाष्य के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित होने पर संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन त्याग देगी। मेरे वेदभाष्य समझने के लिए संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन, जिसको वे कर रहे हैं और जो मेरा मुख्य उद्देश्य है नष्ट हो जायेगा।"

वे आगे लिखते हैं:

"मेरा विचार आपको अनुवाद करने से रोकने का नहीं है, क्योंकि बिना अंग्रेजी अनुवाद के यूरोपियन जातियाँ सत्य के प्रकाश को नहीं पा सकतीं।"

वे तो बस यही कहते थे कि—"जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा (देश की भाषा) के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता उससे और क्या आशा की जा सकती है।"[1] अपने प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में इधर-उधर घूमते हुए उन्होंने समझ लिया था कि यद्यपि संस्कृत देववाणी है तथापि उसमें सर्वसाधारण की भाषा बनने की योग्यता नहीं रह गयी है। शासकों की भाषा अंग्रेजी विदेशी भाषा है। भाषा के हर शब्द का एक वातावरण होता है और वह उस देश की संस्कृति और प्रकृति से निर्मित होता है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं और भाषा इन विशिष्टताओं की वाहक है। भाषा के बदल जाने पर उस संस्कृति विशेष में उथल-पुथल हो जाने की पूरी सम्भावना होती है। जिस भाषा की रूपरेखा और

1. हिन्दी गद्य साहित्य—डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे, पृ० 78-79

भाव-व्यंजना देश की संस्कृति से मेल नहीं खाती, वह भाषा उस देश को स्वीकार्य नहीं हो सकती। स्वामीजी के कार्य का मूल्यांकन करते समय हमें यह समझना होगा कि हिन्दी भाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी। वे हिन्दी को लेकर भारत की राष्ट्रभाषा बनाने नहीं चले थे। इसके विपरीत राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते-करते हिन्दी तक जा पहुँचे थे। एक और सत्य को उन्होंने उसी युग में पहचान लिया था। वे अंग्रेजी पढ़ने के विरोधी नहीं थे। लेकिन वे इस बात को जान गये थे और उन्हें इस बात का दुख था कि 'अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है ?'[1] इसीलिए उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के आदि संस्करण में लिखा है—'केवल अंग्रेजी पढ़ लेने से सन्तोष कर लेना अच्छी बात नहीं है। किन्तु सब प्रकार की पुस्तक पढ़ना चाहिए।'[2]

[3]

स्वामीजी ने परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप में हिन्दी साहित्य के निर्माण में क्या योगदान किया और उसका हिन्दी गद्य पर क्या प्रभाव पड़ा यह जानना हमारा मुख्य उद्देश्य है। वह महत्त्वपूर्ण भी है क्योंकि इसी काल में गद्य का विकास हुआ। किसी भी भाषा में प्रारम्भिक साहित्य प्रायः पद्य में ही मिलता है। लेकिन बाद में अनेक कारणों से जिनमें व्यावहारिक आवश्यकता और राष्ट्रीयता का विकास मुख्य है, गद्य का जन्म होता है। उन्नीसवीं सदी में आजादी की ललक और धार्मिक उथल-पुथल मच उठने के कारण गद्य की आवश्यकता शिद्दत से अनुभव की जाने लगी। वाद-विवादमय प्रचार के लिए पद्य उपयुक्त साधन नहीं है। उसके लिए सरल, सहज, सशक्त और लोक प्रचलित गद्य की आवश्यकता होती है। इसी कारण संस्कृतज्ञ और गुजराती होते हुए भी स्वामीजी की भाषा में शक्ति भी है और सहजता भी, जैसे :

> "जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य ही नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश करे, किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"

परोक्ष रूप में स्वामीजी ने हिन्दी साहित्य की सेवा करने के प्रयत्न में जो

---

1. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० 40-45
2. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 80

साधन अपनाये उनमें सबसे प्रमुख है भाषण या व्याख्यान। जैसा कि हम कह आये हैं हिन्दी को अपनाने के बाद उनका सबसे पहला हिन्दी भाषण मई, 1874 में काशी में हुआ था। हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने का यह परिणाम तो अवश्य हुआ कि सर्वसाधारण अधिक संख्या में व्याख्यान सुनने आने लगे परन्तु पण्डितों की उपस्थिति कम हो गयी।[1]

स्वामी जी यही तो चाहते थे कि उनकी बात सर्वसाधारण तक पहुँचे। यद्यपि अगले दो वर्ष तक वे पूरी तरह शुद्ध हिन्दी न तो लिख ही पाये न बोल ही पाये परन्तु उनकी भाषण शैली इतनी प्रभावशाली थी कि वे जनता के अन्तरतम तक अपनी बात पहुँचाने में सफल हो जाते थे। उनकी यह शक्ति निरन्तर विकसित होती रही और शीघ्र ही वे धारा-प्रवाह शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी में बोलने और लिखने लगे। उनकी भाषण शक्ति के विषय में एक बन्धु विष्णुदत्त ने देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को लिखा था :

"स्वामी जी उत्कृष्ट वक्ता थे। उनका उच्च स्वर गम्भीर और मधुर था। उनकी बोलने की रीति तेजपूर्ण और उनका आक्रमण तीव्र होता था, उनकी वाणी एकदम हृदय में प्रवेश कर जाती थी इसलिए वह विरुद्ध पक्ष के लोगों को असह्य हो जाती थी और वे बीच में से ही उठकर चले जाते थे।"[2]

स्वामी श्रद्धानन्द तो उनकी भाषण कला पर मुग्ध थे। इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भाषण कला ने हिन्दी को परिमार्जित ही नहीं किया, उसके सही अर्थ को अभिव्यक्त करने की अदम्य शक्ति भी दी। श्रद्धानन्द जी ने पं. लेखराम द्वारा लिखित स्वामी जी की जीवनी की भूमिका में कहा है :

"मैंने केशवचन्द्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और ऐनी बेसेंट आदि व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं पर मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज़ के व्याख्यान ने किया और जो फ़साहत कि मुझे उस रोज़ के सादे शब्दों में मालूम हुई वह अब तक तो दिखायी नहीं दी।...महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरम्भ किया। पादरी स्कॉट को छोड़कर पहले दिन के सब अंग्रेज सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब चुपचाप एकाग्र होकर व्याख्यान सुन रहे थे।..."

ऋषि ने कहा, "लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित, प्रथम भाग, पृ० 270
2. वही, पृ० 369

क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो हम तो सत्य ही कहेंगे।···आत्मा का न तो कोई हथियार छेदन कर सकता है और न उसे आग जला सकती है", यह कहकर वे गरजती हुई आवाज़ में बोले, "यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दे···लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखायी नहीं देता मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँ या नहीं।"[1]

यह वाणी किसी निष्कपट निडर व्यक्ति के हृदय से ही निकल सकती है। और उस समय अज्ञान, अन्धविश्वास और मूढ़ता के सुदृढ़ दुर्ग को धराशायी करने के लिए इसी की आवश्यकता थी।[2] वे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों पर ऐसी ही सरल भाषा में बोलते थे। वे अपने भाषणों को रोचक और हास्य-विनोद से पूर्ण बनाना भी खूब जानते थे। बीच-बीच में दृष्टान्त सुनाते रहते थे। और हँसाते रहते थे, पर उनकी विनोदप्रियता प्रायः व्यंग्य प्रधान और शिक्षाप्रद होती थी :

"एक राजा बैंगन खाकर सभा में आये, उस दिन उन्हें बैंगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा में आकर उन्होंने कहा कि बैंगन बड़े स्वादिष्ट होते हैं तो दरबारी कहने लगे कि महाराज बैंगन तो शाकों का राजा है। देखिये इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और सिर पर मुकुट है। राजा ने बैंगन अधिक खा लिये थे। रात्रि में उन्होंने विकार किया। अतः अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैंगन की बुराई की तो चाटुकार दरबारी भाट कहने लगे कि महाराज इन्हीं अवगुणों के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दंड मिला है कि शाखा के नीचे लटकता रहे।"

इस कथा का बाद में पं. राधेश्याम कथावाचक ने अपने एक नाटक में प्रयोग किया। भाषणों की तरह सन् 1874 के बाद वे शास्त्रार्थ भी हिन्दी में करने लगे थे। उनमें भी उन्हें प्रभावशाली और तर्कपूर्ण भाषा का प्रयोग करना पड़ता था। गूढ़-से-गूढ़ शास्त्रीय भाव को सहज भाषा में रखना स्वयं में सहज नहीं है पर स्वामी जी इस विद्या में निष्णात थे। इस कारण हिन्दी भाषा में एक अद्भुत निखार आया और अभिव्यक्ति की क्षमता पैदा हुई।

---

1. आर्य समाज का इतिहास, प्रथम भाग, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ० 123
2. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ० 59

उन्होंने जो शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की उनमें हिन्दी को प्रमुख स्थान मिला। वे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे। उनके बाद आर्य समाज ने अनेक गुरुकुलों की स्थापना करके हिन्दी-साहित्य के प्रणयन में उल्लेखनीय योगदान किया। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'आर्य समाज के इतिहास' में तो यहाँ तक लिखा है कि उनकी प्रेरणा से ही श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने बोलपुर के ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की थी जो बाद में शान्तिनिकेतन के रूप में विकसित हुआ। (प्रथम भाग, पृ० 87)

उन्होंने अपने विचारों का प्रचार करने की दृष्टि से कई पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की प्रेरणा उस समय के आर्य समाजों को दी थी। हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन के लेखक डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त ने स्वामीजी के जीवनकाल में प्रकाशित ऐसी तीन पत्रिकाओं की चर्चा की है। (पृ० 145)

आर्यदर्पण—यह मासिक पत्र सं० 1870 में शाहजहाँपुर से निकला था और इसके सम्पादक थे मुंशी बख्तावर सिंह। यह सम्भवतः 1906 तक जीवित रहा।

आर्यभूषण—यह सं० 1876 में शाहजहाँपुर से ही निकला था और इसके सम्पादक भी मुंशी बख्तावर सिंह ही थे। यह दीर्घजीवी नहीं हो सका पर पं. नरदेव शास्त्री इसे सबसे प्राचीन आर्य सामाजिक हिन्दी मासिक पत्र मानते हैं।

इन दोनों से कहीं महत्त्वपूर्ण था फ़र्रुख़ाबाद से प्रकाशित होनेवाला 'भारत सुदशा प्रवर्तक' जो 1879 से 1912 तक मासिक पत्र के रूप में और फिर साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होता रहा। प्रारम्भ में इसका नाम 'भारत सुदशा समर्थक' था लेकिन स्वामीजी ने इसका नाम बदलकर 'भारत सुदशा प्रवर्तक' कर दिया और स्वयं कुछ दिन तक इसका सम्पादन भी किया।[1] इसके सम्पादक थे श्री गणेशप्रसाद शर्मा। यह पत्र लन्दन में भी वहाँ के आर्य समाज तथा मिस्टर फ्रेडरिक पिनकॉट और मिसेज आरण्डेल को भेजा जाता था। उनकी मृत्यु के बाद आर्य समाज ने इस क्षेत्र में जो काम किया उसे अभूतपूर्व ही कहा जा सकता है।

पत्र-लेखन भी साहित्य की एक विधा है। भले ही कुछ विद्वान इस धारणा से सहमत न हों पर इसमें सन्देह नहीं कि पत्र लिखते समय लेखक अपने को सहज भाव से खोलता चला जाता है और एक ऐसी ही मुक्त-सहज भाषा का प्रयोग करता है। स्वामीजी ने नाना विषयों पर अनेकानेक व्यक्तियों को असंख्य पत्र लिखे या लिखवाये। अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण प्रायः वे बोलकर ही लिखवाते थे। अनेक भाषाओं के मनीषियों से उनका पत्र-व्यवहार होता था। इसलिए उन्हें अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत और गुजराती में पत्र लिखवाने पड़ते थे पर मूलतः वे हिन्दी में ही लिखवाते थे। यदि विषय गूढ़ और जटिल न हो तो वे तत्सम शब्दों का प्रयोग न करके लोक प्रचलित सहज भाषा में लिखवाते थे। गम्भीर विषय होने पर

---

1. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 81

उनकी भाषा में बहुत कम अटपटापन रहता था। आखिर वह युग गद्य के शैशव-काल का ही तो है। वेदों के अर्थ जैसे गम्भीर विषय पर अपने परम विरोधी राजा शिवप्रसाद को लिखा यह पत्र इस बात का प्रमाण है—

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो !

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को नहीं जाना है। इसलिए आपको मेरी बनायी भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ। जो आप मेरे पास आके समझते तो कुछ-कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व बालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनिएगा तो भी आप कुछ समझ लेंगे। भला विचार तो कीजिए कि आप उन पुस्तकों के पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि मुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक है। इन हेतुओं में क्या-क्या सिद्धान्त सिद्ध होते हैं और ऐसे हुए बिना क्या-क्या हानि होती है इन विद्या-रहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नही समझ सकते।

स० 1936 मि० वै०व० सप्तमी शनिवार (सन् 1879)
—दयानन्द सरस्वती।

इसी प्रसंग में उनके द्वारा प्रचारित विज्ञापनों का उल्लेख भी होना चाहिए। ऐसे इक्कीस विज्ञापन मिल पाये हैं, जिनमें सोलह केवल हिन्दी में, तीन संस्कृत और हिन्दी में तथा दो संस्कृत में हैं। इनमें प्रायः ग्रन्थों का-प्रकाशन, अशुद्ध लेखों का खण्डन, शास्त्रार्थ के लिए चुनौती, व्याख्यान सुनने के लिए निमन्त्रण आदि विषयों की चर्चा ही होती थी। ये विज्ञापन उस युग की 'कवि वचन सुधा' आदि सभी पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे। अलग से छापकर बाँटे और चिपकाये भी जाते थे। इन विज्ञापनों से भी हिन्दी को बहुत बल मिला है। निम्नलिखित विज्ञापन इस बात की पुष्टि करता है :

"....इसका यह प्रयोजन है कि चारों वेदों का भाष्य करने का आरम्भ मैंने किया है। सो सब सज्जन लोगों को विदित हो कि वह भाष्य संस्कृत और आर्य भाषा, जोकि काशी, प्रयाग आदि मध्य देश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है।

और वैसी आर्य भाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसी सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत का पढ़नेवाला भी वेदों का अर्थ समझ ले। तथा भाषा का पढ़नेवाला भी सहज में समझ लेगा···।"[1]

[4]

जब हम किसी व्यक्ति के साहित्यिक योगदान की चर्चा करते हैं तो सबसे पहले हमारा ध्यान उस व्यक्ति द्वारा रचित ग्रन्थों की ओर जाना स्वाभाविक है। उन्होंने छोटे-बड़े नाना प्रकार के बत्तीस ग्रन्थों की रचना की है पर वे प्राय: सभी उनके धार्मिक सिद्धान्तों और विचारों का प्रतिपादन करनेवाले हैं। इसलिए 'आत्मकथा' तथा 'व्यवहार भानु' जैसी दो-चार पुस्तकों को छोड़कर विषय की दृष्टि से वे हमारे लिए विचारणीय नहीं हैं। पर किसी भी रचना के तीन मुख्य भाग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। इसलिए हम भाषा और शैली की दृष्टि से उन पर निस्सन्देह विचार कर सकते हैं। स्वामीजी ने यहाँ भी जान-बूझकर या योजना बनाकर विधिवत कुछ नहीं किया बल्कि अपने कार्य-क्षेत्र के अनुरूप जिस भाषा और शैली की उन्हें आवश्यकता थी वह स्वत: ही निर्मित होती चली गयी। उनके द्वारा आरोपित नहीं की गयी। इसलिए उसकी जड़ जनमानस में है। और इसलिए उसमें एक ऐसा अटपटापन भी है जो एक शिशु की भाषा की तरह मुग्ध करता है। आतंकित नहीं करता। उन्होंने प्राय: अपने सभी ग्रन्थ बोलकर लिखवाए हैं। उन्होंने लगभग 49 वर्ष की आयु में हिन्दी सीखनी आरम्भ की। उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' अगले वर्ष 12 जून, 1874 को लिखवाना शुरू किया जो अप्रैल, 1875 में प्रकाशित हुआ। तब तक भी वे भाषा पर अधिकार नहीं कर पाये थे। इसलिए उसमें बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गयी थीं, विचार और भाषा दोनों की दृष्टि से। लेकिन उसके बाद निरन्तर बोलते और लिखते-लिखवाते रहने के कारण उनकी भाषा में निखार ही नहीं आता गया बल्कि अभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता भी पैदा होती गयी। वह अब प्रौढ़, परिमार्जित और प्रांजल हो गयी थी। 'सत्यार्थ प्रकाश' का दूसरा संस्करण उनकी मृत्यु के बाद सन् 1884 में प्रकाशित हुआ किन्तु प्रेस में भेजने से पूर्व संशोधित संस्करण की पाण्डुलिपि को उन्होंने अपने हाथों से शुद्ध किया था।

उनकी भाषा पर विचार करते समय एक और तथ्य पर ध्यान देना होगा। वे किसी नये मत का प्रतिपादन नहीं करना चाहते थे। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने स्पष्ट

---

1. कवि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० 34

लिखा है कि वे चाहते हैं कि "सबका विचार एक होकर परस्पर प्रेम होके एक सत्य मतस्थ होवें।"[1]

उनके विचारों से मतभेद हो सकता है और है भी लेकिन यह भी सच है कि इस ग्रन्थ ने अनेक महापुरुषों को प्रभावित किया। श्री दादा भाई नौरोजी जैसे व्यक्ति ने लोकमान्य तिलक से कहा था, "मुझे स्वराज समर में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ से भारी प्रेरणा प्राप्त होती है।"[2] शहीद रामप्रसाद बिस्मिल जैसे अनेक क्रान्तिकारियों ने भी इसी ग्रन्थ से स्वाधीनता संग्राम की प्रेरणा ली थी।[3]

हिन्दी गद्य के निर्माता के रूप में स्वामी दयानन्द का मूल्यांकन उनके युगीन परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। वहाँ वे अप्रतिम हैं।

भाषा

स्वामी जी की मातृभाषा गुजराती थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। जीवन के 49वें वर्ष में हिन्दी सीखने से पूर्व वे निरन्तर सरल संस्कृत में बोलते थे इसलिए यह स्वाभाविक था कि उनकी हिन्दी पर इन दो भाषाओं का गहरा असर रहता और वह है भी। वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे, तद्भव शब्दों का कम। भारतेन्दु तद्भव शब्दों का प्रयोग करने के पक्ष में थे और राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' अपने आकाओं को प्रसन्न करने के लिए उर्दू शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करने लगे थे। स्वामी जी तत्सम शब्दों के पक्षपाती इसलिए भी थे क्योंकि तद्भव शब्दों के स्थान भेद के कारण अनेक रूप प्रचलित थे। भारत की अधिकांश भाषाएँ संस्कृत प्रचुर भाषाएँ हैं। इसलिए संस्कृत प्रचुर हिन्दी, अहिन्दी भाषी प्रदेशों में अधिक सरलता से समझी जाती है।"[4]

स्वामी जी पुराणे, सर्वपुनरपि, पुरश्चरण, नैरोग्य, पाषण्ड आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं। वे संस्कृत शब्दों का लिंग भी उसी रूप में रखते हैं जैसे उनकी भाषा में सन्तान, आयु, आत्मा, विजय आदि शब्द पुलिंग है, देवता स्त्रीलिंग। लेकिन संस्कृत में जो नपुंसक है (जैसे-पुस्तक), उसे उन्होंने हिन्दी में पुलिंग में प्रयुक्त किया है, जैसे—"कोई भी दूसरा वस्तु न था", "एक प्राचीन पुस्तक जोकि विक्रम के सम्वत् 1872 का लिखा हुआ था।" "बिना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है।" या "यह अग्नि का सामर्थ्य है।"

मातृभाषा गुजराती होने के कारण उसके अनेक शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 4
2. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 83
3. वही
4. वही, पृ० 100

है जैसे ऊंदर, कुम्भार, ससा आदि। वाक्य रचना पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता है—जैसे 'अपन सब मिल के'। गुजराती लिपि में नुक़्ते और अर्द्धचन्द्र या अनुस्वार का प्रयोग नहीं किया जाता। स्वामी जी ने भी इनका प्रयोग नहीं किया।

उर्दू शब्दों का प्रयोग उन्होंने किया अवश्य है पर प्रसंग के अनुसार किया है जैसे क़ुरान मत के खंडन में वे मज़हब और फ़रिश्ता आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। गुमान और खर्च जैसे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। लेकिन उनकी भाषा में उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं में बोल-चाल के साधारण शब्दों का प्रयोग निश्चय ही मिलता है, "मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूट, मार-कूट कर पोप और उनके चेलों को गुलाम बिगारी बना पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया और चना खाने को दिया।"[1]

ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में किया, जैसे जब लौं, होवै, रहै, चाहै आदि। "रखता हूँ" क्रिया के लिए 'धरता हूँ' लिखा है। ब्रजभाषा के प्रभाव से विचारना, प्रकाशना आदि नाम धातुओं का प्रयोग भी पाया जाता है। 'सिरजनहारा' आदि शब्दों में पाया जाने वाला 'हारा' प्रत्यय भी उन्होंने प्रयुक्त किया है।"[2]

निरन्तर व्याख्यान देते रहने और उन्हें प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से सहज-भाव से उन्होंने मुहावरों और कहावतों का खूब प्रयोग किया है। इससे अभिव्यक्ति की क्षमता बढ़ती है। 'धुर्रे उड़ाना', 'दाल न गलना', 'आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा', 'सन के छूछे गोले चलाना, 'अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ से छाना' उनके कुछ प्रिय मुहावरे हैं। मुहावरों के अतिरिक्त 'उलटि चोर कोतवाल को दंडे', 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा' जैसी कहावतों ने उनके गद्य को शक्ति दी।

जिस समय स्वामी जी ने हिन्दी में लिखना शुरू किया था तब तक भाषा और वर्तनी का रूप स्थिर नहीं हो पाया था। इस प्रकार के दोष उस काल के सभी गद्य लेखकों की भाषा में मिलते हैं। श्री प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में जिस तरह, 'सवता' जैसे चित्य प्रयोग मिल सकते हैं, इसी प्रकार स्वामी जी ने भी 'ऐश्वर्यादि कभी न बढ़े' और 'प्राप्त कराओ' के स्थान पर क्रमश: 'कभी मत बढ़ो' और 'प्राप्त करो' का प्रयोग किया है।

किसी भी भाषा के शैशवकाल में ऐसा होना आश्चर्यजनक नहीं है। आश्चर्य-जनक तो यह बात है कि उसी काल में अपनी शैलीगत विशेषताओं के कारण

1. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ० 99
2. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 102

उन्होंने सहज भाव से हिन्दी गद्य को कैसा गम्भीर, सरल, ओजस्वी, सशक्त, प्रभावशाली और साथ ही रोचक और लचीला भी बना दिया। हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन यही गद्य है।

शैली

यहाँ कुछ शैलीगत विशेषताओं को रेखांकित करना अप्रासंगिक न होगा। वह पुनर्जागरण काल के एक प्रमुख नेता थे। उन्होंने निर्भीक होकर समाज में फैली कुरीतियों पर घन की चोट की। इसलिए उनकी भाषा में एक निर्भीक योद्धा का सिंहनाद सुनाई देता है।

> "जब सम्वत् 1914 के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर, मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थी तब मूर्ति कहाँ गयी थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा। परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण सदृश कोई होता तो इसके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते-फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाय उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें।"[1]
>
> "धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और बाहर भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई···।"[2]

उनके भाषणों की चर्चा पीछे आ चुकी है। उनके आक्रमण में जितना ओज रहता था उतना ही प्रवाह भी :

> ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाए तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे। प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी सन्तान अनार्य हो गयी है।···पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहें उतनी स्त्रियाँ कर सकता है।

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 43
2. वही, पृ० 215

देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं है ? क्या यह अधर्म नहीं ?"[1]

साधारण जन तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिए वे निरन्तर सहज सरल और प्रसादयुक्त भाषा का प्रयोग करते रहे। इसकी चर्चा पीछे आ चुकी है। अपने व्याख्यानों और लेखों को रोचक बनाने की दृष्टि से वे अनायास ही एक सशक्त व्यंग्य शैली के आविष्कारक भी बन गये। उनकी इस भाषा पर श्री विनायक दामोदर सावरकर तो इतने मुग्ध थे कि उन्होंने लिखा, "ऐसी सरल हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बने, जिसमें ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' का निर्माण किया।"[2] उनकी प्रसाद युक्त सरल भाषा का उदाहरण देखिये :

"देखो कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं, जैसाकि स्वदेश में पहरते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। और तुममें से बहुत से लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्ध और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।[3]

रोचकता के लिए वे दृष्टान्त कथाओं का प्रयोग भी बहुलता से करते थे। सन् 1879 में प्रकाशित 'व्यवहारभानु' में ऐसी अनेक कथाएँ संकलित हैं। ये मूलतः लोक कथाएँ हैं। उस काल के लेखकों ने इनका उपयोग अपनी-अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार किया है।

अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए वे शास्त्रों के प्रमाण भी बहुत देते थे। शास्त्रार्थ तो इन प्रमाणों पर ही आधारित होते हैं। उस काल के हिन्दी साहित्य पर इसका काफ़ी प्रभाव दिखायी देता है।

उनकी हास्य-व्यंग्य प्रधान शैली कहीं तो बड़ी कठोर है, कहीं सहज हास्य से छलकती मन-प्राणों को पुलकित कर देती है। श्राद्ध-तर्पण का खंडन करते हुए उनका व्यंग्य पैनी तलवार की तरह अन्तर को चीरता चला जाता है। मृत जीवों को लेने के लिए यमदूत धरती पर आये हैं। इस बात का उपहास उड़ाते वे लिखते हैं :

---

1. पुणे प्रवचन, पृ० 93 (बारहवाँ प्रवचन—इतिहास)
2. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 96
3. वही

"जब जंगल में आग लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए असंख्य यम के गण आवे तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिए और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जायेंगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़ पुराण के बाँचने-सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे या घर का द्वार अथवा सड़क रुक जायेगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे। श्राद्ध, तर्पण, पिंड-प्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिए गोदान लेते हैं वह तो पोप जी के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती। पुन: (जीव) किसका पूँछ पकड़कर तरेगा और हाथ तो यहीं जलाया वा गाड़ दिया गया फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा।"[1]

आक्रमण इस उद्धरण में भी है परन्तु हास्य का पुट देकर वे अपनी बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता खिलखिला कर हँस ही सकता है :

"मथुरा तीन लोक से न्यारी तो नहीं परन्तु उसमें तीन जन्तु बड़े लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक चौबे जी, कोई स्नान करने जाये अपना कर लेने को खड़ा रहकर बकते रहते हैं—लाओ भाँग, मर्ची और लड्डू खाये-पिये, यजमान का जय-जय मनाएँ, दूसरे जल के कछुए, काट ही खाते हैं, जिनके मारे स्नान करना भी घाट पर कठिन है। तीसरे आकाश के ऊपर लाल मुख के बन्दर पगड़ी टोपी, गहने और जूते तक न छोड़ें, काट खाए, धक्के दे, गिराकर मार डालें और ये तीनों पोप और पोप जी के चेलों के पूजनीय हैं।"

कभी-कभी वे शब्दों के साथ भी खिलवाड़ करते हैं जैसे वे पुजारी को ईश्वर की सच्ची पूजा का बैरी मानते थे। इस सम्बन्ध में एक पुरानी कहावत भी है—"चर्च के जो जितने पास होता है ईश्वर से वह उतना ही दूर होता है।" इसलिए पुजारी के स्थान पर 'पूजारि' (पूजा का अरि) लिखते थे। इसी तरह वे जन्म पत्र को शोकपत्र और हर की पैड़ी को हाड़ पैड़ी कहते थे। गपोड़ाध्याय, मतलब सिन्धू, पेटार्थी जैसे शब्द उन्होंने इसी तरह घड़े थे।

भले ही स्वामी जी ने नाटकों का विरोध किया है पर अपने मन्तव्यों को स्पष्ट

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 221

करने के लिए उन्होंने प्रश्नोत्तर शैली का खूब सहारा लिया है। विशेष रूप से अपने सर्वाधिक मान्य ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' और 'व्यवहारभानु' में।

लेकिन मूलत: तो स्वामी जी प्रखर चिन्तक और विचारक हैं। उनके शुद्ध गद्य का रूप तो इतिवृतात्मक शैली में ही प्रगट हुआ है। जैसे :

"देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होती तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकती और युद्ध कर सकती। इसलिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार-विद्या, शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए। क्योंकि इनके सीखे बिना सत्या-सत्य का निर्णय, पति आदि के अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन-वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना-कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्न-पान बनाना और बन-वाना नहीं कर सकती, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें···।[1]

और ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका जैसे गंभीर ग्रन्थों का प्रणयन करते समय उनकी भाषा विषय के अनुरूप वैसी ही गहन गम्भीर और अर्थव्यंजक हो उठी है। उनकी भाषा को पंडिताऊ कहना उनके साथ अन्याय करना है।

"जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्य मात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता। जैसाकि इस मंत्र में प्रत्यक्ष विधान है अर्थात वेदाधिकार जैसे ब्राह्मण वर्ण के लिए है वैसा ही क्षत्रिय, आर्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिए भी बराबर है क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक है वह सबका हितकारक है और ईश्वर रचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिए उसका जानना सब मनुष्य को उचित है। क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिए है। किसी वर्ण विशेष के लिए नहीं।"[2]

स्वामी जी की भाषा पर विचार करते समय केवल यही ध्यान में नहीं रखना चाहिए कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी बल्कि यह भी कि उनके पास इतना

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० 46
2. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, दयानन्द ग्रन्थ माला, शताब्दी संस्करण, पृ० 648

समय भी नहीं था कि वह कहीं बैठकर सुस्थिर चित्त से ग्रन्थों की रचना करते। वे निरन्तर गतिमान रहते थे और उनके पत्रों से पता लगता है कि उनके सहकर्मी उनके आदेशों-अनुदेशों का पूरी तरह पालन नहीं करते थे :

"भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे···।"[1]

···"हमने भीमसेन के शोधे गये पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बड़ा गाफ़िल है।"[2]

"और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसीकि पहले बनाता था। जैसीकि प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिए यह प्रतिदिन गिरता जाता है···कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और 'च' का अर्थ भी 'और' करना चाहिए यह 'भी' कर देता है।"[3]

इससे स्पष्ट है कि वे वेदभाष्य की वर्तमान भाषा से सन्तुष्ट नहीं थे। वे वे अधिक स्पष्ट और परिमार्जित भाषा चाहते थे परन्तु जैसाकि हमने कहा यह काम शान्त वातावरण और समय चाहता है और उनके जीवन में इसका पूर्ण अभाव था।

[5]

अपने समकालीन हिन्दी लेखकों से उनके सम्बन्ध कैसे थे और क्या उन्होंने किसी रूप में तत्कालीन या बाद के सर्जनात्मक साहित्य को प्रभावित किया।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और राजा लक्ष्मण सिंह की चर्चा की जा चुकी है। पहले राजा साहब हिन्दी को फ़ारसी का लिबास पहनाने के पक्षधर थे, दूसरे संस्कृत के। उनके मध्य में थे वर्तमान हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। वे भाषा को जनता के लिए ग्राह्य बनाने के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने संस्कृत, फ़ारसी और ब्रजभाषा के शब्दों का पूर्ण बहिष्कार नहीं किया बल्कि जनसाधारण में प्रचलित शब्दों के साथ उनकी संगति इस प्रकार बिठायी कि वे अवरोधक बनने के स्थान पर उसकी शक्ति बन गये। स्वामी दयानन्द को भी सर्वसाधारण के अन्तरतम तक अपनी बात पहुँचाने के लिए ऐसी ही भाषा की दरकार थी और वह उन्हें निरन्तर जनता से गहरे सम्बन्ध बनाये रहने के कारण अनायास ही मिल

1-2-3. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ० 317, 334, 455

गयी। इस क्षेत्र में इन दिग्गजों का जो योगदान है वह अमूल्य तो है ही दिशा-सूचक भी है।

जैसा हम देख चुके हैं कि प्रारम्भ में भारतेन्दु जी स्वामी जी की मान्यताओं के विरोधी थे। तब वे उभरते हुए वैष्णव युवक थे लेकिन जैसे-जैसे उनकी विचार-शक्ति प्रौढ़ और प्रखर होती गयी वे स्वामी जी के सुधार-आन्दोलन के प्रशंसक बनते चले गये। जब स्वामी जी दूसरी बार काशी आये तो स्टेशन पर उनका स्वागत करनेवालों में भारतेन्दु भी थे।[1] उनका बलियावाला व्याख्यान इस परिवर्तन का प्रमुख प्रमाण है, जिसमें उन्होंने कहा था :

> "बहुत-सी बातें जो समाज-विरुद्ध मानी हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइये। जैसे जहाज़ का सफर, विधवा-विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन ही में ब्याह करके उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइये'''कुलीन प्रथा, बहुविवाह को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइये।"[2]'''

'भारत दुर्दशा' में यह प्रभाव और शिद्दत के साथ मुखर हुआ है। सत्यानाश फ़ौजदार धर्म की सेवाओं का इस प्रकार वर्णन करता है :

> रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँहि घुसाए।
> शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए॥
> जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
> खानपान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ाओ॥
> जन्मपत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
> बालकपन में ब्याहिं प्रीतिबल नास कियो सब॥
> की कुलीन के बहुत ब्याह बल वीरज मार्‌यो।
> विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो॥
> रोकि विलायतगमन कूपमंडूक बनायो।
> औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटाओ॥
> बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
> ईश्वर सों सब विमुख किये हिन्दू घबराई॥[3]

---

1. महर्षि दयानन्द के भक्त प्रशंसक और सत्संगी : डॉ. भवानीलाल भारतीय, पृ॰ 15
2. भारतेन्दु ग्रन्थावली, तृतीय खंड, पृ॰ 601
3. भारतेन्दु ग्रन्थावली, नाटक, पृ॰ 139

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा अपूर्ण नाटक 'प्रेम-योगिनी' में भी हिन्दू धर्म में फैले नाना रूप पाखंडों पर भी वे प्रहार करते हैं। स्वर्ग में विचार सभा के अधिवेशन में भारतेन्दु जी स्वामी जी का कुछ विरोध अवश्य करते हैं परन्तु उनके कार्य के प्रति श्रद्धा और आदर भी प्रगट करते हैं।[1]

'कविवचन सुधा' में स्वामी जी के विज्ञापन उन्होंने प्रकाशित किये और 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' के सम्पादक मंडल में जून से सितम्बर, 1874 तक श्री नवीन-चन्द्र राय, पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, पं. सत्यव्रत सामश्रमी आदि मनीषियों के साथ स्वामी दयानन्द का नाम भी उन्होंने सम्मिलित किया।[2] रायकृष्णदास के 'धर्मयुग' में प्रकाशित लेख से यह भी पता चलता है कि 'कविवचन सुधा' में भी उनका नाम जाता था। इसी पत्र में भारतेन्दु ने स्वामी जी की पुस्तक 'अद्वैत मत खंडन' दो अंकों में प्रकाशित की थी।[3]

भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके प्रभामण्डल के अन्य सदस्य भी स्वामीजी के विचारों से बहुत गहरे प्रभावित जान पड़ते हैं। ऐसा सुना जाता है कि पं. प्रताप नारायण मिश्र कुछ समय तक आर्य समाज से जुड़े भी रहे। उनका प्रसिद्ध भजन 'पितु मातु सहायक स्वामी सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो।' इसी काल की रचना है। उनकी 'देश दशा' कविता में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भाग्यवाद, बाल-विवाह, नवग्रह-पूजन तथा वर्ण-व्यवस्था जैसी कुरीतियों का खण्डन हुआ है। इस कविता से वे इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी कविता 'जय-जय अद्भुत अवतारो' शीर्षक कविता में उन्हें दशावतारों के रूप में चित्रित किया है।[4] श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' एक ओर स्वामीजी के विरुद्ध लिखते हैं, 'आलकट दयानन्द न दुख दूह रे, राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु रे' तो दूसरी ओर 'विधवा विपरति वर्षा' जैसी कविताएँ भी लिखते हैं, जिन पर स्वामीजी के विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'एक निष्पक्ष जीव, वृन्दावन' के छद्म नाम से एक लेख लिखा था 'स्वामी दयानन्द और आर्य समाज'। परम वैष्णव होते हुए भी वे स्वामीजी के सुधार-आन्दोलन का समर्थन करते हैं। हिन्दी के लिए तो वे स्वामीजी को ईश्वर का वरदान मानते थे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने लिखा था :

"सरकार को तो हिन्दी पर दया नहीं आयी। परमेश्वर को सुना है कि दयावान हैं देखें परमेश्वर की दया कहीं दयानन्द के साथ सती नहीं हो गयी।"[5]

---

1. भारतेन्दु ग्रन्थावली, (प्रथम भाग) श्री ब्रजरत्नदास, पृ० 475
2. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ० 97
3. आर्य समाज के पत्र और पत्रकार, डॉ. भवानीलाल भारतीय, पृ० 5
4. हिन्दी गद्य साहित्य, पृ० 103
5. वही, पृ० 104

भारतेन्दु-युग के समान द्विवेदी युग और छायावाद युग के साहित्य पर भी स्वामी दयानन्द का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। विस्तार से चर्चा करना तो यहाँ सम्भव नहीं होगा। परन्तु श्री रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि "रीतिकाल के ठीक बादवाले काल मे हिन्दी-भाषी क्षेत्र में जो सबसे बड़ी सांस्कृतिक घटना घटी वह थी स्वामी दयानन्द का पवित्रतावादी प्रचार। इस पवित्रतावादी प्रचार से घबराकर द्विवेदी युगीन कविगण नारी के कामिनी रूप से आँखें चुराने लगे थे। इस युग के कवियों को श्रृंगार की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे स्वामी दयानन्द पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हों। इसी भय से छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जूही की कली' अथवा 'विहंगनियाँ' का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन करने लगे।"[1]

इस सुधारवादी एवं पवित्रतावादी विचारों का एक अच्छा प्रभाव भी पड़ा। उस काल के साहित्यकारों ने जहाँ एक ओर अपने युग के अनुरूप प्रगतिशील साहित्य की रचना की वहीं दूसरी ओर संयम का आश्रय लिया। उस समय जो निराशाजनक स्थिति पैदा हो गयी थी उससे मुक्ति पाने के लिए लेखकों ने अपनी प्राचीन ऐतिहासिक गौरव-गाथाओं का चित्रण करना भी आरम्भ कर दिया। प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक साहित्य पर इसका प्रभाव स्पष्ट है। जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त जो अतीत का गौरव गान करते हैं और वह भी स्वामी दयानन्द के प्रभाव के कारण हुआ।

यह परम्परा आधुनिक काल तक चलती रही लेकिन जैसा कि होता है मूल्य निरन्तर बदलते हैं। नये साहित्य पर उन्हीं मूल्यों का प्रभाव पड़ा। प्रेमचन्द की 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक की यात्रा इस बात का प्रमाण है। इस यात्रा की झलक दूसरे अनेक साहित्यकारों में भी देखी जा सकती है। अपनी सारी सीमाओं के बावजूद स्वामी दयानन्द ने जो आत्मविश्वास पैदा किया उसी के कारण हम अपनी अस्मिता की खोज कर सके।

हिन्दी गद्य के विकास में उनके योगदान की चर्चा विस्तार से हो चुकी है। उन्होंने स्वयं तो साहित्य की दूसरी विधाओं में नहीं लिखा लेकिन उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया। उस सबकी विस्तार से चर्चा यहाँ सम्भव नहीं। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और स्वामी दयानन्द इस संघर्ष काल की हिन्दी की सर्वोत्तम देन हैं।"[2]

जिस समय हिन्दी बोलनेवाला गँवार समझा जाता था, उस समय सब ओर

1. हिन्दी गद्य साहित्य, डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे, पृ० 103, 104

2. वही, पृ० 104

से उपेक्षित गँवारू बोली को इन महानुभावों ने शक्ति अर्जन करने में सहायता पहुँचाकर उसे राष्ट्रभाषा के पद के योग्य बनाया। "हिन्दी साहित्य को नये साँचे में ढालनेवाले भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से स्वामीजी का कार्य कम न था अपितु अनेक अर्थों में अधिक ही था।"[1]

हिन्दी इस देश की राष्ट्रभाषा है, इस तथ्य को पिछली शताब्दी के प्रायः सभी मनीषियों ने स्वीकार कर लिया था और इनमें लगभग सभी महानुभाव वे थे जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। पर उनके नेतृत्व में और उनकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए आर्य समाज और गुरुकुल काँगड़ी ने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा सभी ने की है।

स्वामी जी के कारण ही सबसे पहले आर्य समाज ने यह आवाज़ उठायी कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ होनी चाहिए। महात्मा मुंशीराम ने इस सम्बन्ध में गुरुकुल काँगड़ी के माध्यम से अनेक क्रियात्मक परीक्षण किये। यहाँ के स्नातकों ने वैज्ञानिक विषयों पर मौलिक ग्रन्थ लिखे। पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया। यहीं पर सबसे पहले इस शताब्दी के प्रथम चरण में, हिन्दी के माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरम्भ किया गया और हिन्दी में विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों के अभाव को भी दूर करने का सफल प्रयत्न किया। महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर जिन व्यक्तियों ने आज से लगभग अर ी वर्ष पहले (1908) रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, विद्युतशास्त्र, भौतिक और रसायन विज्ञान जैसे विषयों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कीं, वे थे सर्वश्री महेशचरण सिन्हा (1882-1942) और गोवर्धन शास्त्री (1891-1927)। बाद में, गुरुकुल के स्नातकों सहित, अनेकानेक विद्वान इस क्षेत्र में आये। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य को समृद्ध करनेवाले विद्वानों में भी गुरुकुल के स्नातक प्रमुख रहे हैं। पर प्रारम्भ में यह काम करना निश्चय ही कठिन रहा होगा। आज भी अच्छी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव खटकता रहता है तो आज से अस्सी वर्ष पहले स्थिति क्या रही होगी? पर महात्मा मुंशीराम तो वास्तव में कर्मयोगी थे। उन्होंने यह प्रमाणित करके कि हिन्दी के माध्यम से किसी भी विषय में उच्च से उच्च शिक्षा दी जा सकती है, बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को चकित कर दिया। तत्कालीन कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान श्री सेडलर ने स्पष्ट शब्दों में कहा था, "मातृभाषा द्वारा उच्च शिक्षा देने के परीक्षण में गुरुकुल को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।"

---

1. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन—डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त, पृ० 15

यही सब देखकर महात्मा गाँधी ने महामना पं. मदनमोहन मालवीय से कहा था :

"गंगा के किनारे, हरिद्वार के जंगलों में गुरुकुल खोलकर जब स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा दे सकते हैं तो वाराणसी की गंगा के किनारे बैठकर आप इन बच्चों को टेम्स का पानी क्यों पिला रहे हैं ?"

हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं को विशेषकर जीवनी, आत्मकथा, यात्रा-वृत्तान्त आदि को तो गुरुकुल के स्नातकों ने पुष्ट किया ही है, उन्होंने शिकार और वन-भ्रमण की रोमांचक यात्रा-कथाएँ भी प्रस्तुत कीं। लेकिन राष्ट्र में नव-चेतना जगाने की दृष्टि से दो क्षेत्रों में उनका योगदान बहुत ही सराहनीय रहा है, पहला अनुसन्धान के क्षेत्र में, दूसरा पत्रकारिता के क्षेत्र में। किसी भी जाति या धर्म की स्वास्थ्य रक्षा के लिए निरन्तर खोज करते रहना बहुत आवश्यक है। प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल काँगड़ी में भारत के इतिहास को तथा वैदिक देवताओं और ऋषियों को लेकर काफ़ी काम हुआ। अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति उनके निष्कर्षों और स्थापनाओं से सहमत हो पर ऐसा कार्य चिन्तन को धार ही नहीं देता बल्कि कट्टर सिद्धान्तवादी होने से भी बचाता है। इसीलिए तीव्र मतभेद भी सामने आये पर जैसा हम कह आये हैं मतभेद के पीछे दुर्भावना न हो तो वह स्वास्थ्यकर ही होता है।

अनुसन्धान के क्षेत्र की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकों ने अभूतपूर्व जागरूकता और विवेक-बुद्धि का परिचय दिया है। प्रारम्भ में प्रचार-कार्य के लिए स्वयं स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से साप्ताहिक और मासिक पत्रिकाओं का जो सिलसिला आरम्भ हुआ था, वह अन्ततः राष्ट्रीय चेतना में कैसे परिवर्तित हो गया, उसका विस्तृत विवेचन श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने दो वर्ष पूर्व गुरुकुल काँगड़ी में 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला' के अन्तर्गत दिये व्याख्यान में किया था। वह जिस निष्कर्ष पर पहुंचे, उससे हम सहमत हैं :

"आर्य समाज के माध्यम से हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता की जो सेवा हुई वह इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जाता है।"

हम इस बात से भी सहमत हैं कि यदि महात्मा मुंशीराम गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना न करते तो हिन्दी-पत्रकारिता का जो रूप हम आज देख रहे हैं, वैसा सम्भवतः नहीं ही होता। गुरुकुल के स्नातकों ने इस क्षेत्र में जो योगदान दिया

वह हर दृष्टि से प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है। महात्मा मुंशीराम ने 'सद्धर्म प्रचारक' नाम का एक साप्ताहिक पत्र उर्दू में निकाला था। इसका पहला अंक 19 फ़रवरी, 1884 को प्रकाशित हुआ था। कई वर्ष यह उर्दू में ही निकलता रहा पर एक दिन अचानक किसी ने उन पर व्यंग्य करते हुए कहा, "स्वामी दयानन्द के शिष्य बनते हो और पत्रिका उर्दू में निकालते हो।"

इस व्यंग्य से महात्मा मुंशीराम के अन्तर में जैसे तुमुलनाद-सा हुआ और उन्होंने 1 मार्च, 1907 में 'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा हिन्दी कर दी। मित्रों ने बहुत समझाया कि पत्रिका पहले ही घाटे में चल रही है अब हिन्दी में उसे कौन पढ़ेगा। पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियाँ ही पढ़ती हैं। उनका उत्तर था :

> "देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। स्वामी दयानन्द जब गुजराती होते हुए हिन्दी में ग्रन्थ लिख सकते हैं तो क्या हम उनके अनुयायी हिन्दी का थोड़ा-सा त्याग भी नहीं कर सकते। हमारे लिए तो हिन्दी का पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य है।"

और सचमुच इस निश्चय का सुखद परिणाम हुआ। केवल उस पत्र को पढ़ने के लिए ही बहुत से लोगों ने हिन्दी सीखी।

महात्मा मुंशीराम स्वयं ही आदर्श स्थापित करके नहीं रह गये, बल्कि उन्होंने अपने दोनों पुत्रों सर्वश्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति को भी इसी मार्ग का पथिक बना दिया। उन्होंने सन् 1918 में 'श्रद्धा' नाम से एक और साप्ताहिक निकाला था। कुछ दिन तक 'सद्धर्म प्रचारक' दैनिक के रूप में भी निकलता रहा। उन्हीं की प्रेरणा से प्रो. इन्द्र ने 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन किया। उन्होंने न केवल दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया बल्कि कालांतर में 'अर्जुन', 'वीर अर्जुन', 'नवराष्ट्र' और 'जनसत्ता' जैसे सशक्त साप्ताहिक और दैनिक पत्र निकालकर हिन्दी पत्रकारिता की जो नींव डाली थी, 'सुमन' जी के शब्दों में : "···उसी पर आज हिन्दी-पत्रकारिता का यह भव्य भवन खड़ा है।"

इन्द्र जी के सम्पादकीय अपने सन्तुलित और सारगर्भित चिन्तन के लिए बहुत लोकप्रिय हुए। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनकी ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देखकर ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1913 में स्वामी श्रद्धानन्द जी को भागलपुर, बिहार में होनेवाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने घोषणा की थी :

> "पर भाषा में विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"

उर्दू भाषी होते हुए भी उन्होंने अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' हिन्दी में लिखी।[1] इसमें उन्होंने अपनी जीवन-गाथा का और उसमें आने वाले उतार-चढ़ावों का बड़ी बेबाकी से चित्रण किया है भारत में उस समय वैसा साहस केवल महात्मा गाँधी ही दिखा सके थे।

यह मात्र एक झलक है उस कार्य की जो आर्य समाज ने (विशेषकर गुरुकुल काँगड़ी) स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से हिन्दी भाषा और साहित्य को पुष्ट करने के लिए किया। एक व्यक्ति, जिसकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी और जो प्रचलित अर्थों में सर्जक भी नहीं था, एक सुधारक और चिन्तक था, वह कैसे सहज भाव से जनता के अन्तरतम तक अपनी बात पहुँचाने के लिए उपयुक्त भाषा की खोज करते-करते हिन्दी तक पहुंच गया, वह न केवल श्लाघनीय, बल्कि स्पृहणीय भी है।

उसके बाद उन्होंने क्या और कैसे किया उसी का यत्किंचित् आकलन इस विनिबन्ध में हुआ है। केवल नौ वर्ष के अल्पकाल में उन्होंने हिन्दी लिखने और बोलने का अभ्यास किया, वेद भाष्य सहित अनेक ग्रन्थों की रचना की और देश भर में घूम-घूमकर व्याख्यान दिये, शास्त्रार्थ किये। अनेक बाधाओं से जूझते हुए, उस काल में जब हिन्दी गद्य का निर्माण हो रहा था उन्होंने वह कार्य कर दिखाया, जिसका मूल्य उस युग के किसी साहित्यकार से कम नहीं है।

चिन्तक होने के नाते उनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर गम्भीर चिन्तन और विचारशीलता का परिचय मिला है वहीं उनमें शिष्ट हास्य और तिलमिला देने वाला व्यंग्य से भी छलछलाता है। इस प्रकार अनायास ही वे एक ऐसे लचीले गद्य के निर्माण का कारण बन जाते हैं जो जनमानस को सीधे और गहरे प्रभावित कर सकता था। तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ बोलचाल के शब्दों, मुहावरों और कहावतों का प्रयोग करके उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि जनता की भाषा में गम्भीर-से-गम्भीर साहित्य का सृजन किया जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मुंशी प्रेमचन्द इसी पथ के पथिक थे।

1. ज्ञानमण्डल, काशी, 1924

खण्ड : 3

रचनाएँ (चयन)

[1]

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्म-चरित लिखता हूँ ।

सम्वत् 1881 के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त देश काठियावाड़ का मजोकठा देश मोर्वी का राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था, यहाँ अपना, पिता का, निज निवास स्थान के प्रसिद्ध नाम इसलिए मैं नहीं लिखता कि जो माता-पिता आदि जीते हों मेरे पास आवें तो इस सुधार के काम में विघ्न हो क्योंकि मुझको उनकी सेवा करना उनके साथ घूमने में श्रम और धन आदि का व्यय कराना नहीं चाहता।[1] मैंने पाँचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता-पिता आदि किया करते थे, बहुत से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादि भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष में मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री संध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गयी थी और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था और मेरे कुल में शैव मत था उसी की शिक्षा भी किया करते थे। और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का लिंग बना के तू पूजा कर। और माता मने किया करती थी कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है इससे पूजा नहीं हो सकेगी। पिताजी हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कुल की रीति है तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेदों का पाठ मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। पिताजी अपने साथ मुझको जहाँ-तहाँ मन्दिर और मेल-मिलापों में ले जाया करते थे कि शिव की उपासना

---

1. यह संशोधन श्री महाराज ने स्वहस्त से हाशिये पर किया है।

सबसे श्रेष्ठ है। इस प्रकार 14 (चौदहवें) वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था और शब्द रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे। पिताजी जहाँ-जहाँ शिव-पुराण आदि की कथा होती थी वहाँ मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे। और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी किन्तु जमीदार और लेन-देन से जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव पूजन का आरम्भ करा दिया था। जब शिवरात्रि आयी तब 13 त्रयोदशी के दिन कथा का माहातम्य सुना के शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया। परन्तु माता ने मने भी किया कि इससे व्रत नहीं रहा जायेगा तथापि पिताजी ने व्रत का आरम्भ करा दिया। और जब 14 चतुर्दशी की शाम हुई तब बड़े-बड़े बस्ती के रईस अपने पुत्रों सहित मन्दिरों में जागरण करने को गये वहाँ मैं भी अपने पिता के साथ गया और प्रथम प्रहर की पूजा भी करी दूसरे प्रहर की पूछा करके पुजारि[1] लोग बाहर निकलके सो गये। मैंने प्रथम से सुन रखा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है। इसलिए अपनी आँखों में जल के छींटे मार के जागता रहा और पिता भी सो गये तब मुझको शंका हुई कि जिसकी मैंने कथा सुनी थी वही यह महादेव है व अन्य कोई क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है। वह बैल पर चढ़ता, चलता-फिरता, खाता-पीता, त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता और कैलाश का मालिक है इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था, तब पिताजी को जगा के मैंने पूछा कि यह कथा का महादेव है वा कोई दूसरा ? तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है ? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है और वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा और इसके ऊपर तो चूहे फिरते हैं तब पिताजी ने कहा कि कैलाश पर जो महादेव रहते हैं उनकी मूर्ति बना और आह्वान करके पूजा किया करते हैं अब कलियुग में उस शिव का साक्षात दर्शन नहीं होता। इसलिए पाषाणादि की मूर्ति बनाके उन महादेव की भावना रखकर पूजन करने से कैलाश का महादेव प्रसन्न हो जाता है। ऐसा सुनके मेरे मन में भ्रम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी पिता से पूछा कि मैं घर को जाता हूँ। तब उन्होंने कहा कि सिपाही को साथ लेके चला जा परन्तु भोजन कदाचित मत करना। मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझको भूख लगी है। माता ने कुछ मिठाई आदि दिया उसको खाकर एक बजे पर सो गया। पिताजी प्रातःकाल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुए कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि

---

1. स्वामी जी मन्दिर के पुजारियों को विनोद में पुजारि—पूजा-अरि, पूजा का शत्रु कहा करते थे।

यह कथा का महादेव नहीं है इसकी पूजा मैं क्यों करूँ ? मन में तो श्रद्धा नहीं रही परन्तु ऊपर के मन पिताजी से कहा कि मुझको पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पूजा कर सकूँ तथा माता और चाचा आदि ने भी पिता को समझाया इस कारण पिता भी शान्त हो गये कि अच्छी बात है पढ़ने दो। फिर निघण्टु निरुक्त और पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरंभ करके पढ़ता रहा और कर्मकाण्ड विषय भी पढ़ता रहा। मुझसे छोटी एक बहन फिर उससे छोटा एक भाई फिर भी एक बहन और एक भाई अर्थात् दो बहन और दो भाई और हुए थे उसको हैजा हुआ एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था। नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जने वहाँ से तत्काल और वैद्य आदि बुलाये, औषधि भी की, तथापि चार घण्टे में उस बहन का शरीर छूट गया सब रोने लगे। परन्तु मेरे हृदय में ऐसा धक्का लगा और भय हुआ कि ऐसे ही मैं भी मर जाऊँगा सोच-विचार में पड़ गया। जितने जीव संसार में हैं उनमें से एक भी न बचेगा। इससे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह दुख छूटे और मुक्ति हो अर्थात् इसी समय से मेरे चित्त में वैराग्य की जड़ पड़ गयी। परन्तु यह विचार अपने मन में ही रखा किसी से कुछ भी न कहा। इतने में जब उन्नीस वर्ष की अवस्था हुई तब जो मुझसे अति प्रेम करनेवाले बड़े धर्मात्मा विद्वान मेरे चाचा थे उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं परन्तु यह बात माता-पिता से तो नहीं कही किन्तु अपने मित्रों से कहा कि मेरा मन गृहाश्रम करना नहीं चाहता। उन्होंने माता-पिता से कहा माता-पिता ने विचारा कि इसका विवाह शीघ्र कर देना चाहिए। जब मुझको मालूम पड़ा कि ये 20 बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे तब मित्रों से कहा कि मेरे माता-पिता को समझा दो अभी विवाह न करें। तब उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका। तब तक 20 बीसवाँ वर्ष पूरा हो गया। तब मैंने पिताजी से कहा कि मुझे काशी भेज दीजिये कि मैं व्याकरण ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊं। तब माता-पिता और कुटुम्ब के लोगों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे जो कुछ पढ़ना हो सो यहीं पढ़ो। और अगली साल में तेरा विवाह भी होगा क्योंकि लड़की वाला नहीं मानता। और हमको अधिक पढ़ा के क्या करना है जितना पढ़ा है वही बहुत है। फिर मैंने पिता आदि से कहा कि मैं पढ़कर आऊँ तब विवाह होना ठीक है तब माता भी विपरीत हो गयी कि हम कहीं नहीं भेजते और अभी विवाह करेंगे। तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं। फिर तीन कोश ग्राम में अपनी जमीदारी थी वहाँ जाकर उस पण्डित के पास मैं पढ़ने लगा। और वहाँ के लोगों से भी कहा कि मैं गृहाश्रम करना नहीं चाहता। फिर माता-पिता ने मुझे बुला के विवाह की तैयारी कर दी तब तक इक्कीसवाँ वर्ष पूरा हो गया। जब मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना कदाचित न छोड़ेंगे। फिर गुपचुप सम्वत 1903 के वर्ष घर

छोड़ के संध्या के समय भाग उठा। चार कोश पर एक गाँव था वहाँ जाकर रात्रि को ठहर कर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठ के 15 कोश चला परन्तु प्रसिद्ध ग्राम सड़क और जानकारों के ग्रामों को छोड़ के बीच-बीच में नित्य चलने का प्रारम्भ किया। तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़कर चला गया उसको खोजने के लिए सवार और पैदल आदमी यहाँ तक आये थे। जो मेरे पास थोड़े-से रुपये और अँगूठी आदि भूषण था वह सब पोपों ने ठग लिया। मुझसे कहा कि तुम पक्के वैराग्यवान तब होगे कि जब पास की चीज सब पुण्य कर दो। फिर उन लोगों के कहने से मैंने जो कुछ था, सब दे दिया। फिर लाला भगत की जगह जोकि सायले शहर में है वहाँ बहुत साधुओं को सुनकर चला गया। वहाँ एक ब्रह्मचारी मिला उसने मुझसे कहा कि तुम नैष्टिक ब्रह्मचारी हो जाओ उसने मुझको ब्रह्मचारी की दीक्षा दी और शुद्ध चैतन्य मेरा नाम रखा तथा काषाय वस्त्र भी करा दिये। जब मैं वहाँ से अहमदाबाद के पास कौठ गांगड़ जोकि छोटा-सा राज्य है वहाँ आया तब मेरे गाम के पास का जान-पहचान वाला एक वैरागी मिला उसने पूछा कि तुम कहाँ से आये और कहाँ जाना चाहते हो। तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देश भ्रमण किया चाहता हूँ। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र धारण करके क्या घर छोड़ दिया। मैंने कहा कि हाँ मैंने घर छोड़ दिया और कार्तिकी मेले पर सिद्धपुर को जाऊँगा। फिर मैं वहाँ से चलकर सिद्धपुर में आ के नीलकण्ठ महादेव की जगह में ठहरा कि जहाँ दण्डी स्वामी और ब्रह्मचारी ठहर रहे थे। उनका सत्संग और जो-जो कोई महात्मा व पण्डित मेले में सुन पड़ा उन सबके पास गया और उनसे सत्संग किया। जो मुझको कौठ गांगड़ में वैरागी मिला था उसने फिर मेरे पिता के पास पत्र भेजा कि तुम्हारा पुत्र ब्रह्मचारी हुआ काषाय वस्त्र धारण किये मुझको मिला और कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया। ऐसा सुन के सिपाहियों के सहित पिताजी सिद्धपुर में आकर मेले में खोजकर पता लगा के जहाँ पण्डितों के बीच में मैं बैठा वहाँ पहुँचकर मुझसे बोले कि तू हमारे कुल में कलंक लगानेवाला पैदा हुआ। जब मैंने पिताजी की ओर देख के उठ के चरण स्पर्श किया नमस्कार करके बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये मैं किसी आदमी के बहकाने से चला आया और मैंने बहुत-सा दुख पाया। अब मैं घर को आने वाला था। परन्तु अब आप आये यह बहुत अच्छा हुआ कि अब मैं साथ-साथ घर को चलूँगा। तो भी क्रोध के मारे गेरु के रँगे वस्त्र और एक तूँबे को तोड़ फार के फेंक दिये और वहाँ भी बहुत कठिन-कठिन बातें कहकर बोले कि तू अपनी माता की हत्या किया चाहता है। मैंने कहा कि मैं अब घर को चलूँगा तो भी मेरे साथ-साथ सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको अकेला मत छोड़ो और इस पर रात्रि को भी पहरा रखो। परन्तु मैं भागने का उपाय देख रहा था। सो जब तीसरी रात के तीन बजे के पीछे पहरे वाला बैठा-बैठा सो गया उसी समय मैं लघु-शंका का

बहाना करके भागा। आध कोश पर एक मन्दिर के शिखर में एक वृक्ष के सहारे से चढ़ और जल का लोटा भर के छिपकर बैठ रहा जब चार बजे का अमल हुआ तब मैंने उन्हीं सिपाहियों में से एक सिपाही मालियों से मुझको पूछता सुना तब मैं और भी छिप गया ऊपर बैठा सुनता रहा वे लोग ढूंढ़कर चले गये मैं उसी मन्दिर की शिखर में दिन भर रहा। जब अँधेरा हुआ तब उस पर से उतर सड़क को छोड़ के किसी से पूछा कि दो कोश पर एक ग्राम था उसमें ठहर के अहमदाबाद होता हुआ बड़ोदरे शहर में आकर ठहरा वहाँ चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारी और संन्यासियों से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं। और ब्रह्म हूँ अर्थात जीव ब्रह्म एक है ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने मुझको करा दिया प्रथम वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था परन्तु ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ। फिर वहीं बड़ोदरे में एक बनारस बाई वैरागी का स्थान सुनकर उसमें जाके एक सच्चिदानन्द परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्र विषयक बातें हुईं फिर वहाँ सुना कि आजकल चाणोद कन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी, ब्रह्मचारी और विद्वान ब्राह्मण रहते हैं। वहाँ जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संभाषण हुआ फिर एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार आर्य्या हरिमीड़े तोटक वेदान्त परिभाषा आदि प्रकरणों का थोड़ें महीनों में विचार कर लिया। उस समय ब्रह्मचर्यावस्था में कभी-कभी अपने हाथ से रसोई बनानी पड़ती थी इस कारण पढ़ने में विघ्न विचार के चाहा कि अब संन्यास लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा वहाँ जो दीक्षित स्वामी, विद्वान थे उनको कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध नहीं करना चाहता था क्योंकि घर का भय बड़ा था जोकि अब तक बना है। तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है, इसलिए हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने के पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोश भर मकान जोकि जंगलों में था उसमें ठहरे उनको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्ति पण्डित और मैं दोनों उनके पास जाके शास्त्र विषयक सम्भाषण करने से मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान हैं। और शृंगीरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते थे उनका नाम पूर्णानन्द सरस्वती था। उनसे उस वेदान्ति के द्वारा कहलाया कि ये ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं। यह मैं ठीक जानता हूँ कि किसी प्रकार का अपगुण इनमें नहीं है इनको आप संन्यास दे दीजिये संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो क्योंकि हम तो महाराष्ट्र के हैं। तब उसने कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं तो यह ब्रह्मचारी तो पंच द्राविड़ है इसमें क्या चिन्ता है। तब उन्होंने मान लिया और उसी ठिकाने तीसरे

दिन संन्यास की दीक्षा दण्ड ग्रहण कराया और दयानन्द सरस्वती नाम रखा। परन्तु मैंने दण्ड का विसर्जन भी उन्हीं स्वामी जी के सामने कर दिया क्योंकि दण्ड की भी बहुत-सी क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था। फिर वे स्वामी जी द्वारिका की ओर चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद कन्याली में रहके व्यासाश्रम में एक योगानन्द स्वामी को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं उनके पास जाके योगाभ्यास की क्रिया सीख के एक कृष्ण शास्त्री छिनौर शहर के बाहर रहते थे उनको सुन के व्याकरण पढ़ने के लिए उनके पास गया और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोद में आकर ठहरा वहाँ दो योगी मिले कि जिनका नाम ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि था। उनसे भी योगाभ्यास की बातें हुईं और उन्होंने कहा कि तुम अहमदाबाद में आओ वहाँ हम नदी के ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहाँ आवोगे तो योगाभ्यास की रीति सिखलावेंगे। वहाँ से वे अहमदाबाद को चले गये फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में जाके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखी। फिर आबूराज पर्वत में योगियों को सुनके वहाँ जाके अर्वदा भावानी आदि स्थानों में भवानीगिरि आदि योगियों से मिल के कुछ और योगाभ्यास की रीति सीख के संवत 1911 के वर्ष के अन्त में हरद्वार के कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु-संन्यासियों से मिला और जब तक मेला रहा तब तक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हो चुका तब हृषीकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता और सत्संग करता रहा।

इसके आगे फिर लिखेंगे।

—दयानन्द सरस्वती

फिर वहाँ से एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मेरे साथ आये हम सब जने टिहरी में आये वहाँ बहुत साधु और राजपंडितों से समागम हुआ वहाँ एक पण्डित ने एक दिन मुझे और ब्रह्मचारी को अपने घर में भोजन करने के लिए निमन्त्रण दिया। समय पर उसका एक मनुष्य बुलाने को आया। तब मैं और ब्रह्मचारी उसके घर भोजन करने को गये। जब उसके घर के द्वार में घुस करके देखा तो एक ब्राह्मण मांस को काटता था। उसको देखकर जब भीतर गये तब बहुत से पण्डितों को एक सिमियाने के भीतर बैठे देख और वहाँ बकरे का मांस, चमड़ा और शिर देख के पीछे लौटे। पण्डित देख के बोला कि आइये। तब मैंने उत्तर दिया कि आप अपना काम कीजिये। हम बाहर जाते हैं। ऐसा कहकर अपने स्थान चले आये। तब पण्डित भी हमको बुलाने आया। उनसे मैंने कहा कि तुम सूखा अन्न भेज दो। हमारा ब्रह्मचारी बना लेगा। पण्डित बोले कि आपके लिए तो सब पदार्थ बनाये हैं। मैंने उनसे कहा कि आपके घर में मुझ से भोजन कदापि न किया जावेगा।

क्योंकि आप लोग मांसाहारी हैं। और मुझको देखने से घृणा आती है। फिर पण्डित ने अन्न भेज दिया पीछे वहाँ कुच्छ दिन ठहर कर पण्डितों से पूछा कि इस पहाड़ देश में कौन-कौन शास्त्र के ग्रन्थ देखने को मिलते हैं। मैं देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने कहा कि व्याकरण काव्य, कोष, ज्योतिष, और तन्त्र ग्रन्थ बहुत मिलते हैं। तब मैंने कहा कि और ग्रन्थ तो मैंने देखे हैं परन्तु तन्त्र ग्रन्थ देखना चाहता हूँ। तब उन्होंने छोटे-बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत भृष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि माता, कन्या, भगिनी चमारी, चांडाली, आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना। मद्य, मांस, मच्छी, मुद्रा अर्थात ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्य्यन्त एकत्र भोजन करना और उक्त स्त्रियों से मैथुन करना इन पाँच मकारों से मुक्ति का होना आदि लेख उनमें देख के चित्त को खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं वे कैसे नष्टबुद्धि थे। फिर वहाँ से श्रीनगर को जाके केदारघाट पर मन्दिर में ठहरे और वहाँ भी तन्त्र ग्रन्थों का देखना और पण्डितों से इस विषय में संवाद होता रहा। इतने में एक गंगागिरि साधु जोकि पहाड़ में ही रहता था। उससे भेंट हुई और योग विषय में कुच्छ बातचीत होने से विदित हुआ कि यह साधु अच्छा है। कई बार उससे बातें हुईं। मैंने उससे पूछा उसने उत्तर दिया उसने मुझसे पूछा उसका उत्तर मैंने दिया। दोनों प्रसन्न होकर दो महीने तक वहाँ रहे। जब वर्षा ऋतु आयी तब आगे रुद्र प्रयागादि देखता हुआ अगस्त मुनि के स्थान पर पहुँचकर उसके उत्तर पहाड़ पर एक शिवपुरी स्थान है वहाँ जाकर चार महीने निवास करके पीछे उन साधु और ब्रह्मचारी को वहाँ छोड़ के अकेला केदार की ओर चलता हुआ गुप्त काशी में पहुँचा। वहाँ कुच्छ दिन रहकर वहाँ से आगे चल के त्रियुगीनारायण का स्थान और गौरीकुण्ड देखता हुआ भीम गुफा देखकर थोड़े ही दिनों में केदार में पहुँचकर निवास किया। वहाँ कई एक साधु पण्डे और केदार के पुजारी जंगम मत के थे उनसे समागम हुआ तब तक पाँच-छः दिन के पीछे वे साधु और ब्रह्मचारी भी वहाँ आ गये। वहाँ का सब चरित्र देखा फिर इच्छा हुई कि इन बर्फ़ के पहाड़ों में भी कुच्छ घूम के देखें कि कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं परन्तु मार्ग कठिन और उन पहाड़ों में अतिशीत भी है। वहाँ के निवासियों से भी पूछा कि इन पहाड़ों में कोई साधु महात्मा रहता है वा नहीं। उन्होंने कहा कि कोई नहीं। वहाँ 20 (बीस) दिन रहकर पीछे को अकेला ही लौटा क्योंकि वह ब्रह्मचारी और साधु दो दिन रहकर शीत से घबरा के प्रथम ही चले गये थे। फिर मैं वहाँ से चल के तुंगनाथ के पहाड़ पर चढ़ गया। उसका मन्दिर पुजारी बहुत-सी मूर्ति आदि की सब लीला को देखकर तीसरे पहर वहाँ नीचे को उतरा। बीच में से दो मार्ग थे एक पश्चिम की ओर एक पश्चिम और दक्षिण के बीच को जाता था जो जंगली मार्ग था मैं उसमें चढ़ गया। आगे दूर जाकर देखा तो जंगल पहाड़ और बहुत गहरा सूखानाला है उसमें मार्ग बन्द हो रहा है। विचारा कि जो पहाड़ पर

चढ़े तो रात हो जावेगा पहाड़ का मार्ग कठिन है वहाँ पहुँच नहीं सकता। ऐसा विचार उस नाले मे बड़ी कठिनता से घास और वृक्षों को पकड़-पकड़ नीचे उतर कर नाले के किनारे पर चढ़कर देखा तो पहाड़ और जंगल है कहीं भी मार्ग नहीं। तब तक सूर्य अस्त होने को आया विचारा कि जो रात हो जावेगी तो यहाँ जल अग्नि कुच्छ भी नहीं है फिर क्या करेंगे ऐसा विचार कर आगे को बढ़ा जंगल में चलते अनेक ठोकर और कांटे लगे शरीर के वस्त्र भी फट गये। बड़ी कठिनता से पहाड़ के पार उतरा तब सड़क मिली। और अन्धेरा भी हो गया। फिर सड़क-सड़क चल के एक स्थान मिला वहीं के लोगों से पूछा कि यह कहाँ की सड़क है कहा कि ओखी मठ का। फिर वहाँ रात्रि को रहकर क्रम से गुप्त काशी आया वहाँ थोड़ा ठहर कर ओखी मठ में जाकर उसमें ठहर के देखा तो बड़ी भारी पोप लीला बड़े भारी कारखाने। वहाँ के महन्त ने कहा कि तुम हमारे चेले हो जाओ यहाँ रहो, लाखों के कारखाने तुम्हारे हाथ हो जावेंगे मेरे पीछे तुम्हीं महन्त होंगे। मैंने उनको उत्तर दिया कि सुनो ऐसी मेरी इच्छा होती तो अपने माता, पिता, बन्धु, कुटुम्ब, और घर आदि ही क्यों छोड़ता क्या तुम्हारा स्थान और तुम उनसे भी अधिक हो सकते हो। मैंने जिस लिए सब छोड़े हैं वह तुम्हारे पास किंचिन्मात्र भी नहीं है उसने पूछा कि कह क्या बात है। मैंने उत्तर दिया कि सत्य विद्या, योग, मुक्ति और अपने आत्मा का पवित्रता आदि गुणों से धर्मात्मता पूर्वक उन्नति करना है। तब महन्त ने कहा कि अच्छा तुम कुच्छ दिन यहाँ रहो। मैंने उनको कुच्छ उत्तर न दिया और प्रातःकाल उठके मार्ग में चल के जोशी मठ को पहुँच के वहाँ के दक्षिणी शास्त्री और संन्यासी थे उनसे मिलकर वहाँ ठहरा।

— दयानन्द सरस्वती

[2]

एक दृष्टान्त-कथा

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा।।

एक बड़ा धार्मिक विद्वान सभाध्यक्ष राजा यथावत राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठीक करता था। उसकी नगरी का नाम 'प्रकाशवती', राजा का नाम 'धर्मपाल', व्यवस्था का नाम 'यथायोग्य करनेहारी' था। वह तो मर गया, पश्चात उसका लड़का जो महा अधर्मी मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठ के सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहाँ से निकल जाए। तब बड़े-बड़े धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके

पिता सभा की सम्मति के अनुकूल बर्तते थे, वैसे आपको भी बर्तना चाहिए। (राजा) उनका काम उनके साथ गया अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा। (सभा) जो आज सभा का कहा न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जाएगा। (राजा) मेरा तो जब होगा तब होगा परन्तु तुम यहाँ से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा। सभासदों ने कहा, "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः"। जिसका शीघ्र नाश होना होता है उसकी बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहाँ अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये और महा-मूर्ख धूर्त खुशामदी लोगों की मंडली उसके साथ हो गयी। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम 'गवर्गण्ड' नगरी का नाम 'अन्धेर' और जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे सब काम मैं उलटा ही करूँगा। जैसे मेरा पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्य कार्य करते थे। वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवें और रात में राजकार्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीज अपने-अपने भाव पर बिकती थी। हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से ले के मट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी। जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य, वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पाँच-पाँच सेर खाते और बड़े मोटे थे। चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में, वहाँ दश (10) टकों से दश (10) सेर मलाई आदि माल चाव के खूब तैयार होंगे। गुरु ने कहा कि वहाँ गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिए, क्योंकि किसी दिन खाया-पिया सब निकल जावेगा किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह के साथ चला गया। वहाँ जाके अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे। इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीनकर भागे। उसने जब पुकारा तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझसे रुपयों को छीनकर लिये जाते हैं। सिपाही धीरे-धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ चलो पूछ लो। सिपाही—हम नहीं पूछते, चल राजा के पास। पकड़ कर राजा के पास ले जाके कहा कि इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आसपास वालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा न गछा। वह बिचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ, परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो। शूली लोहे की बरछी और सरो के वृक्ष के समान अणीदार होती है। उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उसकी अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है। गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों।

क्योंकि 'समानव्यसनेषु मैत्री'। जिनका स्वभाव एक-सा होता है उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है। गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला, अब क्या करना चाहिए। तब राजा के पास जाके सब बात कही। उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इसको छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो। तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीची वाले गुरु चेला दोनों बैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक-ठीक तो उसका चेला ही है। जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा कि तुझको महाराज का हुक्म है शूली पर चढ़ने के लिए चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया। (सिपाही) अपराध तो नहीं किया परन्तु तू ही शूली के सम-तुल्य है हम क्या करें। (साधू) क्या दूसरा कोई नहीं है? (सिपाही) नहीं, बहुत बर-बर मत कर, चल, महाराज का हुक्म है। तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिए। (गुरु) हमने तुझसे प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो तूने नहीं माना। अब हम क्या करें जैसा हो वैसा भोग, देख अब सब खाया-पिया निकल जावेगा। (चेला) अब किसी प्रकार बचाओ तो यहाँ से दूसरे राज्य में चले जावें। (गुरु) एक युक्ति है बचने की सो करो तो सम्भव है। शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा और मैं तुझको हटाऊँ इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा। (चेल) अच्छा तो चलिये। सब बातें दूसरे देश की भाषा में की इससे सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा चलो देर मत लगाओ नहीं तो बाँध के ले जायेंगे। साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं तुम क्यों बाँधो। (सिपाही) अच्छा तो चलो। जब शूली के पास पहुँचे तब दोनों लंगोट बाँध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे। गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढ़ूँगा (चेला) चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े। (गुरु) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाए। हाँ मुझको मारकर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है चुप रह समय चला जाता है ऐसा कहकर शूली पर चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया। तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिए क्यों लड़ते हो। तब दोनों साधु बोले कि हम से इस बात को मत पूछो चढ़ने दो। क्योंकि हम को ऐसा समय मिलना दुर्लभ है। यह बात तो यहाँ ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहाँ से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठ कर सबसे बोले

कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है। सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है महाराज की बुद्धि को बैंगन का शाक चखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली। सुनिये महाराज! जब बैंगन अच्छा है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलंगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे। जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, ड्योढ़ी बन्द हुई, तब तक खुशामदी लोगों ने चौकी पहरेवालों से कहा कि जब तक प्रातःकाल हम न आवें तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना। उनने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई। खुशामदी। आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुँचे वही अपना है। जब राजा को नशा और रंडीबाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे तभी अपना गहरा होगा खजाना अपना ही है और सब आपस में मिले रहो फूटना न चाहिए। सबने कहा, हाँ जी हाँ यही ठीक है। ये तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया तब गर्ममसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की और जंगल की हाजत हुई। ले लोटा जाजरु में गया। रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई तीस दस्त हुए। रात्रि भर नींद न आयी। बड़ा व्याकुल रहा। उसी समय वैद्यों को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे। ऊटपटांग औषधियां दीं। उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान क्योंकर ठहर सकते हैं। जब प्रातःकाल हुआ तब खुशामिदियों की मंडली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं। (दासी) आज रात भर जुलाब लगा व्याकुल रहे। (खुशामदी) क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया था? (दासी) दस-बारह जने आये थे। (खुशामदी) कौन-कौन आये थे उनके नाम भी जानती हो? (दासी) हाँ तीन के नाम जानती हूँ अन्य के नहीं। तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न कर दी हो। इसलिए आज से हममें से एक दो पुरुषों को रात में भी ड्योढ़ी में अवश्य रहना चाहिए। सबने कहा बहुत ठीक है। इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुना मुख बिगाड़कर शोकाकृति मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई। (गवर्गण्ड) बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुख हुआ। (खुशामदी) वाह वाह जी वाह महाराज। आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा और न कोई इस समय है, क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्रि भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज, जब बैंगन दुष्ट है तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है।

(गवर्गण्ड) क्योंजी ! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार और इस समय उन्हीं की निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो ? अब हम किसको सच्ची मानें ? (खुशामदी) घबरा के बोले कि धन्य धन्य धन्य है आपकी विशाल बुद्धि को। क्योंकि कल संध्या की बात अब तक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज ! हमको साले बैंगन से क्या लेना देना था, हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें सो सभी ठीक है। (गवर्गण्ड) हाँ हाँ नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें। किन्तु हाँ जी, हाँ जी ही करते जायें। (खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात-दिन अपने सुख में मगन रहें। नौकर-चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रखें। बनिये-बक्काल के समान हिसाब-किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें सो ही ठीक रखें। जिस दरख्त को लगावें उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया उसको कभी न छोड़ें चाहे कितना ही अपराध करे। क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और शरीर से परिश्रम किया तो जानो उनका कर्म फूट गया और जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं। (गवर्गण्ड) क्योंजी ! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए होंगे और आगे कोई होंगे वा नहीं ? (खुशामदी) नहीं-नहीं कदापि नहीं, न हुआ, न होगा और न है। (गवर्गण्ड) सत्य है। क्या ईश्वर भी हमसे अधिक उत्तम होगा ? (खुशामदी) कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है। आप तो साक्षात परमेश्वर हैं क्योंकि आपकी कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य, से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है। इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोने को सब गये। जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभा सहित वहाँ जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिए क्यों सुख मानते हो ? (साधु) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है। (गवर्गण्ड) इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा ? (साधु) हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह फल देख लेगा, हमको चढ़ने दो। (गवर्गण्ड) नहीं-नहीं जो फल होता हो सो कहो। सिपाहियो ! इनको इधर पकड़ लाओ। पकड़ लाये। (साधु) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते, झगड़ा क्यों करते हो ? (गवर्गण्ड) जब तक तुम इसका फल न कहोगे तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे। (साधु) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है परन्तु तुम हठ करते हो तो सुनो। जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा वह चतुर्भुज होकर

विमान में बैठ के आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा। (गवर्गण्ड) अहो ! ऐसी बात है तो मैं ही चढ़ता हूं तुमको न चढ़ने दूंगा। ऐसा कहकर झट आप ही शूली पर चढ़-कर प्राण छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आये। चेले ने कहा कि महाराज चलिये, यहाँ अब रहना न चाहिए। गुरू ने कहा कि अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था वह मर गया। अब धर्मराज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो। उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में सत्पुरुष जोकि उसके पिता के पश्चात गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे वे सब आके सुनीति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके उस मुरदे को शूली पर से उतार के जला दिया और खुशा-मिदियों की मंडली को अत्युग्र दंड देके कुछ क़ैद कर दिये और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दी खाने में डालकर अत्युतम विद्वान धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। और पुनः प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे। जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करने हारे राजा, धनाढ्य और खुशामिदियों की सभा और उनके समान अधर्मी, उपद्रवी, राजविद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थप्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान, पुत्रवत प्रजा का पालन करनेवाली राज-सहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज सम्बन्ध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है। जहाँ अभाग्योदय वहाँ विपरीत बुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुख के ही काम करते जाते हैं। और जहाँ सौभा-ग्योदय वहाँ परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर धार्मिक होके खाने-पीने, बोलने-सुनने, बैठने-उठने, लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुख को नहीं प्राप्त होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के, लड़की, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी और स्वामी-भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें।

दो पत्र

ओ३म्

श्रीयुत माननीयवर शूरवीर महाराजे श्रीप्रतापसिंह जी आनन्दित रहो।

यह पत्र बाबा साहब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिएगा।

(1) मुझको इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान योधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान, आपा और बाबा साहब दोनों रोगयुक्त शरीरवाले हैं। अब कहिए इस राज का कि जिसमें 16,00,000 सोलह लाख से कुछ ऊपर मनुष्य बसते हैं, उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप ही तीनों महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर का आरोग्य संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनके सुधार लेवें। जिससे मारवाड़ तो क्या अपने आर्यावर्त देश-भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत में बहुत कम जन्मते हैं और जन्म के भी बहुत कम चिरंजीवी शतायु होते हैं। इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवे उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर ध्यान आप लोगों को अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा हो वैसे कीजिए।

(2) आगे जो यह सुना जाता है कि आगामी सोमवार के दिन यहाँ के लाल-जी आदि की मेरे साथ बातचीत होनेवाली है। उसमें आपकी सम्मति है वा नहीं। यदि सम्मति है तो सायंकाल के सात बजे से साढ़े आठ बजे तक सभा में बराबर उपस्थित होंगे या नहीं। जो आप और बाबा साहब उचित समय सभा में उपस्थित न रहेंगे तो मैं भी इन स्वार्थी व देश के बिगाड़नेवाले पुरुषों के साथ वाद करने के लिए उपस्थित न होऊँगा। कारण यह कि उनमें सभ्यता की रीति बहुत कम देखने में आती है। और पक्षपात भी अधिकतर है। एक आपको छोड़कर अन्य पुरुष भी समय पर सभा में निष्पक्षपाती होकर सत्य बोलनेवाला अब तक मेरी दृष्टि में नहीं आया है। इससे आपका उस सभा में उपस्थित रहना अत्यन्त उचित समझता हूँ।

(3) यदि सोमवार को शास्त्रार्थ कराने की इच्छा हो तो कल सायंकाल सात बजे से साढ़े आठ बजे तक उसके नियम एक दिन पहले अवश्य बन जाने चाहिए कि जिससे दूसरे दिन बराबर शास्त्रार्थ चले। इसलिए लालजी को कल सायंकाल बुलवा लेना चाहिए। और आप लोग भी सभा में उपस्थित हों कि सबके सामने पक्षपात रहित नियम लिखित हो जावें।

(4) इस पोप लीला की निवृत्ति करके यहाँ से अन्यत्र यात्रा करने का मेरा विचार है। अनुमान है कि बाबा साहब ने आपसे कह भी दिया होगा।

इन उपरिलिखित सब बातों का उत्तर लेखपूर्वक आज सायंकाल तक मेरे पास भिजवा देवें। 'अलमति विस्तरेण महामान्यवर्य्येषु।'

मि०आ०व० 3 शनि, सं० 1940।

—दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

श्रीयुत भारतमित्र सम्पादक महाशय निकटे निवेदनम्!

महाशय, आपके संवत 1940 आषाढ़ शुदी 8 गुरुवार के छपे हुए पत्र में किसी ने वेद पर आक्षेप-पत्र छपवाया है। उस लेखक का अभिप्राय यही विदित होता है कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रांत नहीं है। परन्तु इस प्रश्न के करने-वाले ने प्रश्नमात्र ही किया है। अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए कोई विशेष हेतु नहीं लिखा। अर्थात् उत्तर उस बात का होता है जो किसी वेदवचन मूल पर भ्रांतपन दिखलाता है तो उसका उत्तर उसी समय दिया जाता। जैसे कोई कहे कि यह एक हजार रुपयों की थैली सच्ची नहीं। दूसरे ने उससे पूछा क्या मैं तुम्हारे कहने ही मात्र से थैली को झूठी मान सकता हूँ। जब तक तुम झूठा रुपया इसमें से एक भी निकाल के सिद्ध नहीं कर देते, तब तक मैं थैली को झूठा नहीं मानूंगा। वैसा ही मिस्टर ए. ओ. ह्यूम साहेब और जिसने आपके पत्र में छपाया है इन दोनों महाशयों का लेख है। यहाँ उनको योग्य था और है कि किसी एक वा अनेक मन्त्रों को अपने अभिप्राय: के अर्थ सहित वेद, अध्याय, मन्त्र, संख्यापूर्वक लिखकर पश्चात कहते कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रांत नहीं है, तो प्रत्युत्तर के योग्य प्रश्न होता। अब भी यदि उत्तर जानने की इच्छा हो तो इसी प्रकार करें, नहीं तो कुछ भी नहीं है। किन्तु इसमें इतनी बात तो समाधान देने के किसी प्रकार योग्य है कि वेदों में मतभेद क्यों है। अब देखिए यह भी इनकी गोलमाल बात है। क्योंकि वेदों में किस ठिकाने और किन मन्त्रों में किस प्रकार के मतभेद हैं, हाँ, विद्याभेद से कथन का भेद होना तो उचित ही है। जैसे व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, वैद्यक, राजविद्या, गान, शिल्प और पृथिवी से लेके परमेश्वर की अनेक विद्याओं की मूल विद्या वेदों में हैं। इनके संकेत शब्दार्थ और सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। जैसे व्याकरण विद्या से ज्योतिष विद्यादि के संकेत, परिभाषा और पदार्थ विज्ञान पृथक-पृथक होते हैं वैसे इन सब विद्याओं के वाचक अर्थात् प्रकाशक मन्त्र भी पृथक्-पृथक् अर्थ के प्रतिपादक हैं। यदि इन्हीं को मतभेद कहते हैं तो प्रश्नकर्ता का कथन असंगत है। और जो दूसरे प्रकार के मतभेद मानते हैं तो उनका कथन सर्वथा

अशुद्ध है। इसलिए प्रश्नकर्ताओं को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से चारों वेदों में से जो कोई एक मन्त्र भी भ्रांत प्रतीत होते वह आपके पत्र में मिस्टर ए. ओ. ह्यूम साहिब छपवाएँ। उनका उत्तर भी आप ही के पत्र में उस समय छपवा दिया जाएगा। और उनको वेद के निर्भ्रान्त होने के जानने की पक्की जिज्ञासा हो तो मेरी बनायी ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका को देख लेवें। यदि उनके पास न हो तो वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से मँगाकर देखें। और जो उनको आर्य भाषा का पूरा ज्ञान न हो तो किसी सत्यवक्ता दुभाषिये पुरुष से सुनें। इस पर जो उनको शंका रह जाये तो मुझसे समक्ष मिलके जितनी शंका हो उन सबका यथावत समाधान लेवें। क्योंकि पत्रों से शंका समाधान होने में विलम्ब होता और अधिक अवकाश की भी अपेक्षा है। और मुझको वेदभाष्य बनाने के काम से अवकाश न मिलने के कारण विशेष प्रश्नोत्तर करने का समय नहीं है। और जो उन्होंने यह लिखा कि ईश्वर वा ईश्वर की प्रेरणायुक्त हों तो उनका भाष्य निर्भ्रम हो सके। मैं ईश्वर नहीं किन्तु ईश्वर का उपासक हूँ। परन्तु वेद मनुष्यों के हितार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किये हैं। इस अभिप्राय से कि यहाँ तक मनुष्य की विद्या और बुद्धि पहुँच सकेगी और इतने तक कार्य मनुष्य कर सकेंगे। इसलिए यावत मेरी बुद्धि और विद्या है तावत निष्पक्षपात होकर वेदों का अर्थ प्रकाशित करता हूँ। और वह अर्थ सब सज्जनों के दृष्टिगोचर हुआ है, होता है और होगा भी। यदि कहीं भ्रांति हो तो उक्त साहेब प्रकाशित करें। बड़े शोक की बात है कि आज पर्यन्त एक भी दोष वेदभाष्य में से कोई भी नहीं निकाल सका है फिर भी इनका भ्रम दूर नहीं हुआ। ऐसी निर्मूल शंका कोई भी किया करे इससे कुछ भी हानि नहीं हो सकती। और सत्यार्थ होने ही से वेदों का निर्भ्रान्तित्व यथावत सिद्ध है। यदि इस मेरे बनाए भाष्य में मिस्टर ए. ओ. ह्यूम साहेब को भ्रम हो तो इसमें से भ्रांतिमत्व किसी मन्त्र के भाष्य द्वारा आपके पत्र में छपा देवें। मैं उत्तर भी आप ही के पत्र द्वारा देऊँगा।[1] और थियोसोफिष्ट के अध्यक्ष ऐसी बातें करें, इसमें क्या आश्चर्य ? क्योंकि वे अनीश्वर-वादी बौद्धमतावलम्बी होकर भूत, प्रेत, और चुटकुलों के माननेवाले हैं। बड़े शोक की बात है कि सर्वथा विद्यासिद्ध परमात्मा को न मानकर भूत, प्रेत, मृतकों में फँसकर और भोले मनुष्यों को फँसा अपने को सुधारनेवाले मानना यह कितनी बड़ी अनुचित बात है। इनको तो नास्तिक मत जोकि ईश्वर को न मानना है वही प्रिय लगता है। परन्तु इसमें इतनी ही न्यूनता है कि भूत-प्रेतों ने इनको घेर लिया। सच है जो सत्य ईश्वर को छोड़ेगे वे मिथ्या भ्रमजाल भूत-प्रेतों और वन्ध्या पुत्र-वत्कुतु हूँबीलाल सिंह आदि में क्यों न फँसेंगे। बहुत-से समाचारों में छपवाते हैं कि

1. प्रतीत होता है कि इससे अगला लेख सम्पादक—'भारत मित्र' ने नहीं छापा होगा। देखें पत्र पूर्ण सं०-433 का आरम्भ।

इतने सौ इतने हजार मनुष्यों को मिस्टर एच. ए. करनेल ऑलकाट साहब ने रोग रहित किया। यदि यह बात सच हो तो मुझको क्यों नहीं दिखलाते और मनवाते। और मेरे सामने कि जिसको मैं कहूँ उस एक को नीरोग कर दें तो मैं थियोसोफिस्टों के अध्यक्ष को धन्यवाद देऊँ। इसमें मुझको निश्चय है कि जैसे एक थियोसोफिष्ट दम्भ के मारे लाहौर में अपनी अँगुली कटवाके अंग भंग हो गया। कहीं ऐसी गति मेरे सामने इनकी न हो जावे। और करामात कुछ भी काम न आवेगी। मैं प्रसिद्धी से कहता हूँ कि यदि उनमें कुछ भी अलौकिक शक्ति या योग-विद्या हो तो मुझको दिखलावें। मैंने जहाँ तक इनकी लीला सिद्धि और योग-विषयक देखी है वह मानने के योग नहीं थी। अब क्या नयी विद्या कहीं से सीख आए ? मुझको तो यह विषय निकम्मा आडम्बर रूप दीखता है। अलमतिविस्तरेण बुद्धिम द्वर्येषु।

मिति श्रावण वदी 4 संवत् 1940।
तदनुसार 23 जुलाई सन् 1883।

—दयानन्द सरस्वती
जोधपुर

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती—लेखक : डॉ. भवानीलाल भारतीय
2. दयानन्द चरित—लेखक : श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय
3. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित (भाग-1)—लेखक-द्वय : पं. घासीराम, श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय
4. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित (भाग-2)—लेखक द्वय : पं. घासीराम, श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय
5. महर्षि दयानन्द के भक्त, प्रशंसक और सत्संगी – लेखक : डॉ. भवानीलाल भारतीय
6. पूना (पुणे) प्रवचन (उपदेश मंजरी)—सम्पादक : डॉ. भवानीलाल भारतीय
7. आत्मकथा (दयानन्द सरस्वती)—लेखक : दयानन्द सरस्वती
8. स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (प्रथम भाग)—सम्पादक : श्री भगवद् दत्त
9. दयानन्द ग्रन्थमाला—(दोनों भाग)
10. भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम और आर्यसमाज—प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु
11. श्री राजनाथ पाण्डेय का लेख—'धर्मयुग'—9 नवम्बर, 1980
12. हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन—डॉ. लक्ष्मीनारायण गुप्त
13. हिन्दी गद्य साहित्य—डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे
14. भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खंड)—सम्पादक : श्री शिवप्रसाद मिश्र (रुद्र काशिकेय)
15. आर्य समाज का इतिहास (प्रथम भाग)—पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

16. आर्य समाज के पत्र और पत्रकार—लेखक : डॉ. भवानीलाल भारतीय
17. कल्याण-मार्ग का पथिक—लेखक : स्वामी श्रद्धानन्द
18. आर्य समाज का इतिहास (भाग-2, 5)—लेखक : डॉ. भवानीलाल भारतीय
19. दयानन्द—ए क्वाईंटर टुवार्ड्स रिसेसमेंट—लेखक : नरेन्द्र दवे

□□